सन्त समागम

(एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के उपदेश)

भाग–3

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

सन्त-समागम

भाग 3

एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के उपदेश

प्रकाशक :

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन–281 121

- *प्रकाशक :*

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)
पिन–281 121

- सर्वाधिकार सुरक्षित

- *द्वितीय संस्करण :* 4000 प्रतियाँ
जनवरी 2013

- मूल्य : ₹ 25.00

- *मुद्रक :*

पावन प्रिन्टर्स
मेरठ

प्रार्थना

(प्रार्थना साधक के विकास का अचूक उपाय है।)

मेरे नाथ!
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
मानवमात्र को
विवेक का आदर
तथा
बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें!
एवं
हे करुणा सागर!
अपनी अपार
करुणा से
शीघ्र ही
राग-द्वेष का
नाश करें!
सभी का जीवन
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाए!

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

विषय-सूची

1. सन्त-वाणी 9

2. पत्र-पुष्प 70

6. साधन-सूत्र 108

(पूर्वार्द्ध 'सन्त-समागम भाग 2' में)

परिचय

"सत्य अनन्त है, पुस्तक आदि में सीमित नहीं हो सकता। सत्य अपना परिचय देने में स्वयं स्वतन्त्र है।" ये शब्द हैं उन सन्त के, जिनकी अमृत-वाणी इस पुस्तक में संग्रहीत हुई है। इसी अटल सत्य को लक्ष्य में रखकर आग्रह करने पर भी स्वामीजी ने अपना शरीर-सम्बन्धी नाम तथा चित्र इस पुस्तक के साथ देने की अनुमति नहीं दी। इस सत्य का आदर करना मेरे लिए भी अनिवार्य है। अत: जो सत्य स्वामीजी की वाणी के रूप में प्रकट हुआ है, उसके सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ कहने या उसका परिचय देने की चेष्टा करना मेरे लिए धृष्टता होगी। वह तो स्वयं प्रकाश-मय है, और केवल अपना परिचय देने में ही नहीं, बल्कि श्रद्धालु पाठकों के हृदयों को भी आलोकित करने में स्वयं समर्थ है। मुझे जो कुछ कहना है, वह केवल इस संग्रह के विषय में है, क्योंकि इसका एक इतिहास है, जिसको संक्षेप में यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा।

सन् 1940 ई० में लखनऊ के कुछ भक्तों को श्री स्वामीजी के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे भक्त स्वामीजी के शब्द लिपि-बद्ध करते गए। वह संग्रह 'सन्त-समागम' के नाम से छप गया। कुछ ही समय बाद सौभाग्य से श्री स्वामीजी का अजमेर में आगमन हुआ और वहाँ मुझे भी उनके दर्शन तथा सत्संग में सम्मिलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उस सत्संग में उनके मुखारविन्द से निकले उपदेश भी लिख लिए गए। अपने मित्र-वर्ग के लाभार्थ उन्हें छापने का विचार हुआ। खोज करने पर मित्रों की कृपा से स्वामीजी के कुछ पत्र भी प्राप्त हो गए, जो उन्होंने भक्तों की उलझनें सुलझाने के लिए लिखाए थे। इस प्रकार सन् 1942 ई० में, लखनऊ से प्रकाशित 'सन्त-समागम,' अजमेर के उपदेशों का संग्रह और उन पत्रों को मिलाकर सन्त-समागम अपने संवर्द्धित रूप में प्रथम बार अजमेर से प्रकाशित हुआ।

कई पत्रिकाओं ने भी अपनी समालोचनाओं में पुस्तक का हार्दिक स्वागत किया। एक ने लिखा कि "जटिल से जटिल दार्शनिक तत्वों तथा आध्यात्मिक रहस्यों की अभिव्यक्ति इतने सीधे-सादे निर्विवाद ढंग से अन्यत्र देखी नहीं गई"—आदि। अनेक महानुभावों ने सराहा कि भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि मार्गों का स्वामीजी के उपदेशों में अनूठा विवेचन पाया जाता है, एवं जिस सत्य को सभी मार्ग खोजते हैं, पर जो एक प्रकार से मार्गातीत है, उसका

संकेत भी अधिकारी-गण इन उपदेशों में पाकर कृतकृत्य होते हैं। कुछ भक्तों की प्रार्थना पर स्वामीजी ने 'हमारी आवश्यकता,' 'शरणागत-तत्त्व' और 'परिस्थिति का सदुपयोग' नाम के तीन निबन्ध भी लिखवाये, जो पृथक्-पृथक् पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित भी हुए। अब ये तीनों पुस्तिकायें, स्वामीजी के अन्य उपदेश, तथा कतिपय अप्रकाशित पत्र संग्रहीत करके सन्त-समागम के दूसरे-तीसरे भाग के रूप में 'मानव सेवा संघ' द्वारा प्रकाशित किए जा रहे हैं।

जयपुर
अनन्त चतुर्दशी,
संवत् 2010 विक्रमीय

मदनमोहन वर्मा
प्रधान,
मानव-सेवा-संघ

दो शब्द

झरना आपने देखा होगा। प्रकृति की सुरम्य गोद में, पर्वत के अन्तराल से निकलकर अजस्र जलधारा की शत्-शत् लघु उर्मियाँ धरती पर मोती बिखेरती हैं, तो उनकी प्रत्येक लड़ी अवर्णनीय शोभा प्रस्तुत करती है। देखते ही बनता है। दिन में मणि-सतरंगी रश्मियों से रंजित प्रत्येक जलकण अपना अनोखा रूप दिखाता है। जहाँ दृष्टि पड़े, वहीं अटक जाय। किसको देखें! किसको छोड़ें! फिर भी सब मिलकर एक झरना है और उसके प्रत्येक कण में एक ही का रस प्रस्फुटित हो रहा है।

सन्त-हृदय के अन्तराल से निकलकर ज्ञान और प्रेम के अजस्र प्रवाह ने एक ऐसी ही अनुपम निर्झरिणी का रूप धारण किया है 'सन्त-समागम भाग 2/3, में। छोटी-छोटी वार्ता जो इसमें संकलित हैं, जीवन के अनमोल मोती हैं। साधकों के विविध प्रश्न और विविध उलझनों के उत्तर में प्रस्तुत उसी एक ही दिव्य-चिन्मय-रसरूप जीवन की विविध झाँकी खुले हृदय और मानस के पाठकों को मन्त्र-मुग्ध कर देती है। आँखें खुल जाती हैं, अन्धकार मिट जाता है। विवेक के प्रकाश में चेतन-अचेतन तथा उपचेतन की सब उलझनों का सुलझाव स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वस्तुत: ये उक्तियाँ सीधे उद्‌गम से निस्सरित होकर जिज्ञासुओं के अन्तस्तल पर उतरती हैं। ये व्यक्ति, वर्ग, मत, सम्प्रदाय आदि के आग्रहयुक्त जटिल घुमाओं से घूमकर नहीं आतीं कि जिनका अनुसरण करने में साधक दीर्घकाल तक भूल-भुलैयों में ही घूमता रह जाय। जैसे प्रश्नकर्ताओं के साधनकाल में उत्पन्न होने वाले विविध प्रश्नों को सही रूप में प्रस्तुत किया है, वैसे ही ज्ञान और प्रेम के मूल स्रोत से सीधा उत्तर आया है। यह जीवन के सत्य का उन्मुक्त स्पष्टीकरण है। यह प्रमाण-निरपेक्ष सत्य है, जो मानव को अविनाशी-रसरूप जीवन से उसका सीधा (Direct) सम्बन्ध दिखाता है।

आप साधक हैं, तो अपने जीवन के किसी भी प्रश्न पर मत अटकिए। संशय में समय न गंवाइए। सन्त समागम का Guidance लीजिए; सफलता मिलेगी अवश्य।

आइए, राशि-राशि जलकणों के रूप में मुक्ता-मणि बिखरने वाले झरने का अनुसरण करें, तो आगे क्या दिखता है? अहा! सब कण मिलकर एक सुन्दर सलिल प्रवाह बनता जा रहा है। अधिकाधिक गहन गम्भीर होता हुआ ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त को आप्लावित करता हुआ सरस-रस-धार बहा रहा है, सन्त-समागम भाग 2/3 में ज्ञान-प्रेम सूत्र रूपी उक्तियों ने विषय-निरूपण और क्रमबद्ध विवेचन के द्वारा अपेक्षाकृत दीर्घ और गम्भीर रूप धारण किया है। पर है वही, अखण्ड ज्ञान का प्रकाश और अनन्त प्रेम का रस। उस चिरन्तन सत्य से भिन्न कुछ नहीं। कथा, उदाहरण, प्रमाणादि कुछ नहीं। अनुभूत सत्य अपने शुद्ध रूप में अभिव्यक्त है। सच्चे साधक और जिज्ञासु के लिए इसकी उपादेयता अवर्णनीय है।

—देवकी

(पूर्वार्द्ध सन्त समागम भाग 2 में)

सन्तवाणी

(31)

अपने निज-स्वरूप में अचलता का बोध 'ज्ञान' है। 'ज्ञान' घटता-बढ़ता तथा मिटता नहीं, 'ज्ञान' की निष्ठा घटती-बढ़ती है। भजन करते समय की दशा उस परम पवित्र 'ज्ञान' की निष्ठा थी। शरीर में चिपकी हुई वृत्तियाँ ज्यों-ज्यों असङ्ग होती जाती हैं, त्यों-त्यों निष्ठा सुदृढ़ होती जाती है। निष्ठा के सुदृढ़ होने से प्रसन्नता बढ़ती जाती है, परन्तु यदि उस प्रसन्नता का उपभोग कर लिया जाय, तो उसका बढ़ना बन्द हो जाता है। जब प्रसन्नता नहीं रहती, तब उसके स्मरण-चिन्तन का रस शेष रहता है।

विचारशील को न तो प्रसन्नता का उपभोग करना चाहिए और न उसके मिट जाने पर उसकी चिन्ता करनी चाहिए। ज्यों-ज्यों अचिन्तता बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों शरीर-भाव एवं शरीर में चिपकी हुई वृत्तियाँ आनन्दघन स्वयं-प्रकाश निज-स्वरूप में विलीन होती जाएँगी। मेरे नाथ, सब प्रकार के चिन्तन का अन्त कर निश्चिन्त हो जाओ। भला जो आप का निज-स्वरूप है, वह आपसे भिन्न कैसे हो सकता है? कदापि नहीं।

अपने को ढूँढ़ने का प्रयत्न करना अपने से दूर होना है। प्रसन्नता का उपभोग करना प्रसन्नता से भिन्नता स्थापित करना है।

'अपने' को ढूँढ़ना तब तक ही शोभा देता है, जब तक अपने अविचल स्वयं-प्रकाश निज-स्वरूप का बोध नहीं होता, अथवा यों कहो कि जब तक शरीर से असंगता नहीं होती। शरीर से असंग होने पर ढूँढ़ने का प्रयत्न शेष नहीं रहता।

'अपने आप' में स्थिति सर्वोत्कृष्ट अवस्था है, जो सर्व वासनाओं का अन्त होने पर एवं अचिन्त रहने से स्वयं हो जाती है। मेरे नाथ, 'अपने आप' को किसी भी अवस्था में मत बाँधो, क्योंकि आपका निज-स्वरूप सब अवस्थाओं से अतीत है। अत: आपको 'अपने' में अभेद-भाव से निरन्तर निवास करने के लिए 'अपने' को सर्व अवस्थाओं से अतीत करना है। मेरे नाथ, सारा विश्व तो 'आप' में डुबकी लगाता है; भला बताओ तो सही, आप 'अपने' से भिन्न किसमें डुबकी लगाएँगे? सभी से असङ्ग होने पर 'अपने आप' में स्थिति स्वत: हो जाती है।

(32)

सब प्रकार के चिन्तन का त्याग आपने ठीक समझा है, क्योंकि अचिन्त वही हो सकता है, जो अपने प्रेम-पात्र को अपने से भिन्न नहीं पाता है। अचिन्तता अभ्यास नहीं है, प्रत्युत वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग का फल है। जो करना चाहिए तथा जो कर सकते हैं, उसको कर डालने पर अचिन्तता अपने आप आ जाती है।

अचिन्त होते ही क्रिया-शक्ति तथा भाव-शक्ति अपने निज-स्वरूप में स्वतः विलीन हो जाती हैं। निज-स्वरूप का बोध किसी अभ्यास का फल नहीं है, वह तो सर्व-त्याग होने पर अपने आप हो जाता है। अचिन्त होने पर क्रिया तथा ज्ञान का विभाग हो जाता है। क्रिया तथा ज्ञान का विभाग हो जाने पर, ज्ञान-स्वरूप नित्य सत्ता अपने से भिन्न नहीं रहती। अचिन्त होने पर शरीर की सभी अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—से सम्बन्ध-विच्छेद होकर नित्य-जागृति प्राप्त होती है। अभ्यास भविष्य में फल देता है और त्याग वर्तमान में। ज्ञान के अनुरूप जीवन होने पर अनेक शक्तियों का विकास होता है। ज्ञान न तो कभी घटता-बढ़ता है और न कभी मिटता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार की सत्ता शेष नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञान होने पर जगत् की सत्ता शेष नहीं रहती। जब तक अभ्यास की रुचि शेष है, तब तक अभ्यास अवश्य करो, किन्तु अभ्यास स्वाभाविक होना चाहिए। किसी विशेष तैयारी के साथ किया हुआ अभ्यास जीवन का अंग हो जाता है, वह स्वरूप नहीं है। स्वाभाविक अभ्यास तो 'जीवन' हो जाता है।

मेरे नाथ, आपका शरीर परम पवित्र है, उस पर अत्याचार मत करो। जिस रहन-सहन से शारीरिक हित हो, उसके साथ वही करो। आप तथा आपका शरीर आराम चाहता है, काम नहीं। काम का अन्त होने पर राम से भिन्न कुछ नहीं रहता। शरीर को वही खिलाओ, जिससे उसका हित हो। उस परम पवित्र शरीर पर कोई विशेष प्रतिबन्ध मत लगाओ। यथेष्ट विश्राम स्वास्थ्य-सुधार के लिए परम औषधि है। काम का अन्त वास्तविक निर्वासना होने पर होता है। जो अपने में ही पूर्ण सन्तुष्ट है, उसके यहाँ काम नहीं रहता। प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग आनन्द तक पहुँचाने में समर्थ है। अतः किसी नवीन परिस्थिति की इच्छा करना भूल है। दौड़ने की प्रवृत्ति अधिक की गई, इसलिए विश्राम की रुचि उत्पन्न हुई है। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग होने पर क्रिया-शक्ति तथा भाव-शक्ति दोनों अत्यन्त घोर व्याकुलता उत्पन्न कर सीमित अहंभाव को सदा के लिए मिटा देती हैं। बस, उसी काल में नित्य

जीवन से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता। जो स्वाभाविक रुचि हो, वही करो, अब बेचारे शरीर पर अस्वाभाविक जोर मत डालो। वह परम पवित्र शरीर विश्व-सेवा के लिए है, आपके लिए नहीं। आप उससे असङ्ग हो जाओ और उसको विश्व-सेवा के लिए सुरक्षित रख दो।

(33)

विचार के अनुरूप जीवन होना ही तत्वनिष्ठा है। स्वरूप-ज्ञान होने पर निर्वासना एवं नित्य-जागृति आ जाती है। विचार का आदर करने से अनुभव स्वयं हो जाता है। अनुभव के लिए किसी साक्षी की आवश्यकता नहीं होती।

यद्यपि ज्ञान तो सर्वकाल में ज्ञान है, परन्तु ज्ञान के अनुरूप निष्ठा ही ज्ञान की सार्थकता है।

(34)

वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग होने पर स्वाभाविक विषय-निवृत्ति हो जाती है। सर्व विषयों की निवृत्ति होने पर अचिन्तता अर्थात् ब्रह्म-स्थिति होती है। ज्ञान-योग की दृष्टि से उसे स्वरूप-स्थिति भी कह सकते हैं; केवल शब्द-भेद है, अर्थ-भेद नहीं।

निज-स्वरूप में कोई भी परिस्थिति नहीं है। सभी परिस्थितियों का जन्म केवल मानी हुई अहंता से होता है। निज-स्वरूप तो उसको अपनी सत्ता से प्रकाशित करता है, क्योंकि वास्तव में परिस्थिति की सत्ता कुछ नहीं है, वह तो केवल प्रतीति-मात्र है। यदि परिस्थिति बेचारी की सत्ता होती, तो वह मिट नहीं सकती थी। प्रत्येक प्रवृत्ति मानी हुई अहंता से उत्पन्न होती है। यदि प्रवृत्ति के पूर्ण होने पर मानी हुई अहंता को स्वीकार न किया जाय, तो प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति में विलीन होकर अचिन्तता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अचिन्तता अभ्यास नहीं है। अपने आप आई हुई परिस्थिति को उसी प्रकार पूर्ण करो, जिस प्रकार ब्राह्मण थियेटर की कम्पनी में मेहतर का अभिनय (Part) पूरा करता है। अभिनय-कर्ता अभिनय करने में किसी प्रकार की कमी नहीं करता, किन्तु उस अभिनय को 'अपने आपको' कभी नहीं मानता अर्थात् सर्वकाल में अपने को उस अभिनय से भिन्न जानता है। भिन्नता का बोध 'ज्ञान' है। पार्ट समाप्त होते ही परम पवित्र ज्ञान में प्रतिष्ठित होना ही अचिन्तता है, जो मानी हुई अहंता का अन्त करने पर हो सकती है। मानी हुई अहंता का भास होना ही चिपकी हुई वृत्तियों का अर्थ है। अभिनय करने में भी आसक्ति हो

सकती है। अतः जिस प्रवृत्ति के बिना किसी भी प्रकार न रह सको उस प्रवृत्ति को अभिनय के भाव से पवित्रतापूर्वक कर देना और प्रवृत्ति समाप्त होते ही उसका अभाव समझना, अर्थात् उस अभिनय की सत्ता को स्वीकार न करना, यही वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग है।

मानी हुई अहंता के प्रभाव से जो अभिनय आपके सामने आता है, बस, यही संसार है। जो विचारशील किसी भी अभिनय को निमन्त्रण देकर नहीं बुलाता, उसके सामने सभी अभिनय अपने आप हो-हो कर समाप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार मछलियों के उछलने-कूदने से समुद्र को खेद नहीं होता, उसी प्रकार नित्य-जीवन का अनुभव होने पर किसी भी घटना से हर्ष-शोक नहीं होता। परिस्थिति 'जीवन' नहीं है, बल्कि पूर्व-आसक्ति का फल है, अथवा प्राकृतिक न्याय है। 'जीवन' वह है, जो परिस्थिति को प्रकाशित करता है, अथवा परिस्थिति के न रहने पर जो स्वयं शेष रहता है, वही आपका 'निज-स्वरूप' है। कोई भी प्राणी 'अपने आपको' ढूँढ़ नहीं सकता; क्योंकि जो 'है' उसको यदि ढूँढ़ा जाय, तो उससे दूर हो जाता है। इसी कारण 'सत्य' किसी भी क्रिया से प्राप्त नहीं होता।

जो नहीं है, उसको कोई नहीं पा सकता। परिस्थिति नहीं है, इसलिए उसको पकड़ने का प्रयत्न व्यर्थ है। नित्य जीवन सर्वकाल में है; अतः उसको ढूँढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ है। जो विचारशील परिस्थिति को पकड़ता नहीं और नित्य-जीवन को ढूँढ़ता नहीं, वह अपने में ही विश्व तथा विश्वनाथ को पाकर पूर्ण हो जाता है। अपने अनुभव पर सन्देह मत करो। यह ध्यान रहे कि अनुभूति का निरादर न होने पावे, क्योंकि ज्ञान का आदर करने से ज्ञान-निष्ठा प्राप्त होती है।

(35)

शारीरिक निर्बलता का भय मत करो, प्रत्युत शरीर की वास्तविकता देखो। यदि निर्बलता आने पर शरीर का यथार्थ ज्ञान हो जाय, तो निर्बलता का आना सार्थक हो जाएगा, अर्थात् उससे सबलता की अपेक्षा विशेष हित होगा। रोग का भय परम रोग है, और यदि हृदय में रोग का भय न रहे, तो बेचारा रोग निर्जीव हो जाता है। कुछ लोग शरीर के साथ अन्याय करते हैं, क्योंकि उससे काम तो अधिक लेते हैं और उस बेचारे को आराम नहीं देते हैं। ऐसी अवस्था में 'रोग-भगवान्' शरीर को आराम देने के लिए कृपा करते हैं। कभी-कभी जब प्राणी प्रमाद-वश विश्व-नाथ की वस्तु को अपनी समझने

लगता है, तब उसकी आसक्ति मिटाने के लिए 'रोग भगवान्' आते हैं। शरीर विश्व की वस्तु है और विश्व विश्वनाथ का है, उसको अपना मत समझो। आप शरीर से अभिन्न होकर यह लिखती हैं कि, 'मैं निर्बल हो गई हूँ, उठ-बैठ नहीं सकती।' शरीर से अभेद-भाव मान लेना एकमात्र प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो दु:ख का मूल है। विचार-पूर्वक शरीर से असङ्ग होकर अपने ही में अपने प्रेमपात्र का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाओ।

(36)

सब प्रकार के चिन्तन का त्याग करने पर 'योग' तथा वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर घोर व्याकुलता उत्पन्न होती है और पूर्ण व्याकुलता होने पर नित्य-जीवन का अनुभव होता है। किसी अप्राप्त परिस्थिति की इच्छा करना भूल है; प्रत्युत जो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर लेता है, उस पर परिस्थिति का शासन नहीं रहता। वह तो अपने लक्ष्य की ओर अत्यन्त तीव्र गति से दौड़ता है। नित्य जीवन सभी अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से अतीत है; अत: उसके लिए किसी भी परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् सभी परिस्थितियों से अतीत होना चाहिए।

प्रतिकूलता का भय एवं अनुकूलता की आशा महान् निर्बलता है। भय तथा आशा का त्याग करते ही परम बल अपने आप आ जाता है; क्योंकि जो हमारा है, वह हमारा त्याग नहीं कर सकता है। निर्बलताओं की सत्ता स्वीकार करने पर निर्बलता जीवित रहती है; अत: निर्बलता की सत्ता स्वीकार नहीं करनी चाहिए।

नित्य-जीवन की आवश्यकता होना ही नित्य-जीवन प्राप्त होने का सर्वोत्कृष्ट साधन है, क्योंकि आवश्यकता सभी अस्वाभाविक इच्छाओं को खाकर नित्य-जीवन से अभेद कर देती है।

(37)

कमी होते हुए कमी का अनुभव न करना परम भूल है, क्योंकि कमी का अनुभव करना और उसको मिटाने का प्रयत्न करना, यही मनुष्यता है। मनुष्य किसी शरीर का नाम नहीं है। दु:ख से कमी का अनुभव होता है और कमी का अनुभव होने पर दु:ख होता है। इन दोनों का स्वरूप एक है। दु:ख जीवन में परम आवश्यक वस्तु है। दु:ख के बिना जीवन की पूर्णता सिद्ध नहीं होती। दु:ख सब प्रकार के विकारों को मिटाकर अन्त में अपने आप मिट

जाता है। दु:ख मिटते ही आनन्द का अनुभव होता है। जिस प्रकार अग्नि उसी समय तक जलती है, जब तक उसे जलाने के लिए लकड़ी आदि कुछ रहती है; उसी प्रकार दु:ख उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक किसी प्रकार के विकार शेष रहते हैं, अर्थात् जो करना चाहिए, नहीं करते। क्योंकि जो करना चाहिए, उसके करने से सब प्रकार के विकारों का अन्त हो जाता है। कर्ता स्वयं अपने कर्तव्य का ज्ञान सद्भावपूर्वक आवश्यकता होने पर कर सकता है। जो दु:ख से डरता है, वह कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि दुखियों के आधार पर ही सुखियों के सुख, उन्नतिशीलों की उन्नति, विचारशीलों का विचार, विज्ञानियों का विज्ञान, प्रेमियों का प्रेम और योगियों का योग जीवित है। अर्थात् ऐसा कोई विकास नहीं है, जिसका जन्म दु:ख से न हो। दु:खी को दु:ख उस समय तक नहीं भूलना चाहिए, जब तक दु:खी स्वयं मिटकर आनन्द में न मिल जाय। दु:ख संसार की सहायता से मिट नहीं सकता। सत्य की खोज करने वाले को भूतकाल याद नहीं आता, वर्तमान में कल नहीं पड़ती और भविष्य की आशा नहीं होती। जिस प्रकार नींद की अधिक आवश्यकता बढ़ जाने पर नींद का अभिलाषी बिना किसी और की सहायता के स्वयं सो जाता है और यह नहीं समझ पाता कि किस काल में सो गया, उसी प्रकार अत्यन्त व्याकुलता बढ़ जाने पर सत्य का अभिलाषी बिना किसी और की सहायता के स्वयं सत्य का अनुभव कर लेता है और यह नहीं जान पाता कि किस काल में सत्य का अनुभव हो गया।

(38)

क्या कभी आपने 'अपने' का निरीक्षण किया और यह जाना कि आप क्या चाहते हैं? जो चाहते हैं, उसकी पूर्ति किस प्रकार हो सकती है? इन परमावश्यक समस्याओं को बिना हल किए, क्या किसी प्रकार शान्ति मिल सकती है? कदापि नहीं। जो आप चाहते हैं, वही आपका प्रेम-पात्र है। प्रेम-पात्र का यथार्थ ज्ञान होने पर ध्यान अपने आप हो सकता है। ज्ञान होते ही संसार के बन्धन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। वह कौन है, जिसके बिना आप किसी प्रकार नहीं रह सकते? जब तक उसको न जान लो, चैन से न रहो। यद्यपि उसको बिना जाने, किसी को भी चैन नहीं मिलता। परन्तु फिर भी उसके लिए व्याकुल होना आवश्यक है, क्योंकि दु:ख में सुख का भाव हो जाने से जीवन में एक अजीब कंगलापन तथा झूठा सन्तोष आ गया है, जिससे सद्भावपूर्वक स्थायी व्याकुलता नहीं होने पाती। व्याकुलता के बिना, किसी प्रकार भी आप अपने अभीष्ट को नहीं पा सकते।

(39)

आवश्यक काम वही है, जिसके करने से 'करने' का अन्त हो जाय। अपनी प्रत्येक क्रिया को विचारपूर्वक देखो और इसकी खोज करो कि सबके अन्त में क्या करना है। जो अन्त में करना है, उसको भविष्य की आशा पर मत छोड़ो। यदि उसको भविष्य की आशा पर छोड़ोगे और बार-बार उन्हीं क्रियाओं को करोगे, तो वह दशा होगी, जो गोल चक्र में घूमने वाले की होती है।

काम जमा रखने का अर्थ यही है कि कर्ता को यह भाव रहता है कि अभी कुछ करना है। परन्तु शरणागत हो जाने पर करने के भाव का अन्त हो जाता है, और यह ज्ञात होता है कि अब कुछ भी करना शेष नहीं है। करने का भाव अहंकार को मिटने नहीं देता। जब तक किसी प्रकार की याद रहती है, तब तक 'रहने' का भाव रहता है। प्रेम-पात्र से मिलने की चाह और सभी चाहों को मिटाकर उत्पन्न होती है। उनसे मिलने की चाह अग्नि के समान है, जो और सब चाहों को जला देती है। उस चाह की पूर्ति उनकी कृपा पर निर्भर है। अपना काम उसी समय समाप्त हो जाता है, जब और किसी प्रकार की चाह नहीं रहती। विषयों की चाह मिटने पर विषयों के चिन्तन का अन्त हो जाता है और फिर अचिन्त्य, अद्भुत आनन्द का खजाना मिल जाता है। किसी प्रकार का चिन्तन न करना अन्तिम साधन है। विरह का भाव यद्यपि और सभी भावों से श्रेष्ठ है, किन्तु प्रेम-पात्र से अभेद नहीं होने देता। किसी प्रकार की दूरी रखना प्रेम का अधूरापन है, क्योंकि विरह में भी एक प्रकार का रस होता है। उस रस को विचार रूपी अग्नि से मिटाओ, अर्थात् अपने को समर्पित कर दो। सच्चे प्रेमी को किसी प्रकार का भय नहीं होता, क्योंकि भय संसार से सम्बन्ध करने पर उत्पन्न होता है, इसलिए आपको सर्वदा अभय रहना चाहिए।

बाहरी क्रियाओं को तो कौन कहे, मन, इन्द्रिय आदि की क्रियाएँ भी अपने से भिन्न स्वाभाविक होती दिखलाई देती हैं। यह अवस्था काम जमा न रखने से अपने आप हो जाती है।

(40)

शरीर कैसा? जैसा सारा संसार। सेवा करने वालों की प्रसन्नता के लिए, अर्थात् सेवा करने वालों की रुचि की पूर्ति के लिए आनन्दघन भगवान् रोग के स्वरूप में प्रकट होते हैं, क्योंकि प्राय: यही देखने में आता है कि जब कोई सेवा करने वाला नहीं होता, तब रोग नहीं होता। सभी प्राणी अपनी

सद्भाव-पूर्वक की हुई अभिलाषाओं को पूर्ण करने में सर्वदा समर्थ हैं; इस सिद्धान्त में लेशमात्र सन्देह करना परम भूल है। जिसमें पूर्ण करने की शक्ति नहीं होती, उसमें अभिलाषा करने की शक्ति भी नहीं होती। करने की शक्ति का अन्त होने पर तो सिद्धावस्था प्राप्त होती है, क्योंकि कुछ न करने के लिए ही सब कुछ किया जाता है। क्रिया उसी में नहीं होती, जो सबसे बड़ा है।

दु:ख के मिटने की तथा आनन्द को पाने की अभिलाषा तो सभी प्राणियों में स्वाभाविक होती है। यदि दु:ख मिट न सकता, तो उसके मिटाने की अभिलाषा उत्पन्न ही न होती। अत: दु:ख मिटाने के साधन दुखी में अवश्य विद्यमान हैं, क्योंकि कर्ता में जिस अभिलाषा के साधन नहीं होते, वह कभी नहीं होती। विचार-दृष्टि से देखो कि वाइसराय होने की आपके मन में कभी अभिलाषा नहीं हुई, परन्तु आनन्द प्राप्त करने की अभिलाषा सर्वदा से है, क्योंकि आनन्द आपकी सर्वदा प्रतीक्षा करता रहता है। जो एक बार उसकी ओर देखता है, बस उसी काल में वह आनन्द से अभिन्न हो जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

जिसको देखना आता है, वह अपनी रुचि के अनुसार 'इधर' से विमुख होकर 'उधर' देख सकता है। अर्थात् जो दुनिया की ओर देख सकता है, वह 'उनकी' ओर भी देख सकता है। जो राग-द्वेष कर सकता है, वह त्याग-प्रेम भी अवश्य कर सकता है। अपना कर्तव्यपालन करने के लिए प्रत्येक कर्ता सर्वदा समर्थ है। कर्तव्य-पालन करने पर कर्ता को पूर्ण आनन्द, जो उसकी वास्तविक अभिलाषा है, होना चाहिए। जब तक कोई भी अपने से बड़ा तथा छोटा दिखाई देता है, तब तक हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि जलती रहती है; यही सुख तथा दु:ख का स्वरूप है। 'दु:ख' सुख को मिटाने के लिए उत्पन्न होता है। यही प्यारे की परम कृपा है, क्योंकि सुख-दु:ख मिटने पर ही आनन्द की अनुभूति होती है।

भक्त भगवान् में और भगवान् भक्त में सदैव निवास करते हैं।

(41)

कब कहाँ रहना होगा, कुछ पता नहीं। जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को अपनी इच्छा के अनुसार जहाँ चाहती है रख देती है, उसी प्रकार जीवन-यात्रा प्रेम-पात्र की रुचि के अनुसार समाप्त हो रही है।

सम्बन्ध की अदृढ़ता तथा भविष्य की आशा व्याकुलता बढ़ने नहीं देती। गहराई से विचारो कि इन दोनों में से एक कारण अवश्य होगा। अथवा

कुछ-कुछ अंशों में दोनों ही होंगे, क्योंकि भविष्य की आशा न रहने पर इन्द्रियादि की क्रिया रुक जाती है, अर्थात् करने की शक्ति नहीं रह जाती। बस, उसी काल में 'वे' सब कुछ करते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपका जीवन काफी अच्छा है, किन्तु सज्जनता का रस खुराक बन जाने से संसार से पूर्ण निराशा नहीं होने पाती। प्रेमी को दरों-दीवार देखने की फुरसत ही नहीं होती। फिर साधारण स्थिति से रहना किस प्रकार हो सकता है! समय पर आना, बैठना, कायदे से कार्य करना आदि ये सब संसार की आशा पर जीवित रहते हैं। जो बुराई, अच्छाई का स्वरूप धारण कर लेती है, उसका निकलना कठिन हो जाता है। जरा-सा परदा भी परदा ही है।

थोड़े से रस पर सन्तोष मत करो; 'करना' कुछ नहीं है। यदि 'करना' चाहो, तो यही करो कि 'करने' की शक्ति न रहे। प्रतीक्षा यदि बढ़ जाती, तो करने की शक्ति मिट जाती। किन्तु प्रतीक्षा से थककर बैठ जाना भूल हुई। प्रतीक्षा से वही थकता है, जिसको अपने प्रेम पर विश्वास नहीं होता। अत: अपने पर पूरा विश्वास करो।

जिस प्राणी को अपने प्रेम पर विश्वास होता है, वह कभी निराश नहीं होता। जिस काल में भविष्य की आशा मिट जाएगी, 'वे' बिना बुलाए आ जाएँगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उनका संग करने के लिए आपको कुछ नहीं करना है। उनके अतिरिक्त अन्य सभी इच्छाओं को मिटा दो, जो शायद आप कर भी चुके हैं। प्रेम-पात्र की अभिलाषा की पूर्ति उनकी कृपा पर छोड़ दो, किन्तु भविष्य की आशा न करो। उनसे अपनत्व की कमी को निकाल दो। विनती वह करता है, जिसमें अपनत्व की कमी होती है; और भजन वह करता है, जिसका सद्भावपूर्वक सम्बन्ध नहीं होता; समाज की सेवा वह करता है, जिसे विषयों की सत्यता होती है।

लोक-परलोक की चाह मिटने पर माना हुआ वह अहं अपने-आप मिट जाता है।

उनकी तथा संसार की चाह मिटने पर संसार हट जाएगा, और 'वे' आ जाएँगे। इसके सिवाय और कुछ भी नहीं करना है, क्योंकि ऐसा करने पर फिर करने की शक्ति नहीं रह जाती।

(42)

विचार दृष्टि से देखो, केवल जीवन एक है। अनन्त संसार तथा संसार जिन साधनों से दिखाई देता है, वे साधन इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि और जो

देखता है वह, इन तीनों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मालूम होता। ये तीनों भी वास्तव में एक हैं, क्योंकि देखने की रुचि अर्थात् विषयों का राग मिटने पर अनन्त संसार तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि साधन, देखने वाले में विलीन हो जाते हैं, यही अखण्ड समाधि है। इस विचार-समाधि के होते ही निज-स्वरूप का बोध हो जाता है। यह संसार जिसको दिखाई देता है, उसकी एक अवस्था है, जो सिर्फ राग के आधार पर जीवित है। जिस प्रकार रूप, सूर्य तथा आँख तीनों एक हैं, क्योंकि सूर्य के बिना आँखें तथा रूप बन नहीं सकता; उसी प्रकार संसार, संसार का देखने वाला तथा देखने के साधन तीनों एक हैं, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है। तीनों के एक होने पर जो अनुभव होता है, वह कहने में नहीं आता। केवल यही कहा जा सकता है कि अपने में ही सब कुछ मिलता है, अर्थात् किसी प्रकार की चाह शेष नहीं रहती। सब प्रकार की चाह का अन्त होते ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है।

जब दूसरा कोई है ही नहीं, तो भय और आशा किसकी? आपके निज-स्वरूप में अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि उत्पन्न हो, विलीन होते हैं; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अत: संसार के देखने का राग मिटाकर निज-स्वरूप का अनुभव करो। देखने का राग मिटाने के लिए अपने में से संसार को निकाल दो, अर्थात् संसार की सत्ता स्वीकार मत करो। देखने वाले को वही दिखाई देता है, जिसकी सत्ता देखने वाला स्वीकार कर लेता है। अत: 'अपने' से भिन्न जो कुछ रख लिया है, उसको निकाल दो। मन, बुद्धि आदि की ऐनक लगाकर आप अनन्त संसार को देखते हैं। अपने को बुद्धि आदि से ऊपर उठाओ। देखने की चाह मिटाओ। यही परम पुरुषार्थ है।

(43)

आपका भेजा हुआ प्रसाद आपके अनेक शरीरों ने पाकर प्रसन्नता प्रकट की, परन्तु वह प्रसाद इतना सुन्दर था कि प्रत्येक व्यक्ति पुन: लेना चाहता है। इस दृष्टि से वस्तुओं द्वारा प्रवृत्ति की अपूर्णता सिद्ध होती हैं; क्योंकि वस्तुओं की अपेक्षा जन-समाज की तृष्णा अधिक है, जिसकी पूर्ति असम्भव है। इसी कारण विचारशील प्राणी प्रवृत्ति को निर्दोष नहीं मानते, परन्तु वस्तुओं की आसक्ति मिटाने के लिए वस्तुओं द्वारा भगवत्-नाते सेवा करना परम अनिवार्य है; क्योंकि सेवा स्वार्थ को खा लेती है और प्रेम-पात्र के लिए तीव्र अभिलाषा उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से वस्तुओं द्वारा भगवत्सेवा साधन अवश्य है। यद्यपि वस्तुओं द्वारा सेवा करने में कर्ता परतन्त्रता अनुभव करता है, परन्तु इसके द्वारा वस्तुओं की दासता का अन्त एवं अन्य प्राणियों को प्रसन्नता अवश्य होती है।

आप, आपका सद्भाव एवं प्रसाद तीनों ही परम मधुर हैं, परन्तु जिसे आपके निज-स्वरूप की मधुरता प्राप्त है, उसे सद्भाव की मधुरता विशेष सरस नहीं प्रतीत होती और जिसे आपके सद्भाव की मधुरता प्रिय है, उस पर प्रसाद की मधुरता शासन नहीं कर पाती। जो आपके निज-स्वरूप तथा सद्भाव की मधुरता से रहित है, उस पर प्रसाद की मधुरता अपना अधिकार करती है।

आपकी लीला विचित्र है, आपने संसार पर अपना अधिकार किया है, और साधारण प्राणियों पर वस्तुओं द्वारा, भक्तों पर अहैतुकी कृपा द्वारा, एवं तत्त्व-वेत्ताओं पर निज-स्वरूप द्वारा प्यार किया है, परन्तु फिर भी आप सर्वदा सबसे अतीत ही रहते हैं। अत: आपकी अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य सम्पन्न लीला को धन्यवाद!

(44)

अभेदभाव होने पर निर्विकल्प बोध अर्थात् कल्पनातीत स्वरूप का अनुभव स्वयं अपने आप करना चाहिए और उसी अनुभव में अखंड प्रीति अर्थात् निर्विकल्प स्थिति परम अनिवार्य है, क्योंकि ज्यों-ज्यों निर्विकल्पता स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों अनुभव अर्थात् ज्ञान-विज्ञान में परिवर्तित होते ही शक्ति तथा शान्ति दोनों से ही अभिन्नता हो जाती है। ज्ञान से शान्ति तथा विज्ञान से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

सब प्रकार की चाह का अन्त होते ही निर्विकल्प स्थिति स्वत: हो जाती है, क्योंकि किसी-न-किसी प्रकार की चाह होने पर ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् निर्विकल्पता भंग हो जाती है, जो वास्तव में प्रमाद है।

प्यारे! मन, इन्द्रिय आदि द्वारा जो कुछ प्रतीत होता है वह केवल दृश्य है। उसी को साधारण प्राणी संसार के नाम से कथन करते हैं। उस दृश्य का राग दृश्य में सद्भाव तथा उससे सम्बन्ध स्थापित करता है। दृश्य का राग मिटते ही दृश्य के प्रतीत होने के जो साधन हैं, उनसे भिन्नता हो जाएगी। भिन्नता होते ही वे साधन स्वयं आपमें विलीन हो जाएँगे, क्योंकि आपकी सत्ता के बिना उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उनके विलीन होते ही दृश्य तथा उसकी प्रतीति के साधन एवं दृष्टा, ये तीनों ही एक हो जाएँगे, अर्थात् ये तीनों न रहेंगे। बस, उसी काल में अनन्त नित्य सौन्दर्य का अपने में ही अनुभव होगा, अथवा यों कहो कि निजस्वरूप का बोध हो जाएगा।

यह भली प्रकार समझ लो कि प्रीति की न्यूनता से निज-स्वरूप का प्रमाद होता है। अत: अपने में अखंड एवं स्थाई प्रीति होनी चाहिए, अर्थात् अपने से भिन्न को मत देखो। दृश्य, दृष्टा एवं दृश्य की प्रतीति के साधन मन, इन्द्रिय आदि, इन सभी को अपने में ही विलीन कर लो, जो निर्वासना आने पर स्वत: हो जाएंगे। जिस प्रकार सूर्य, किरण तथा धूप, इन तीनों में स्वरूप से अभिन्नता और केवल प्रतीतिमात्र में भिन्नता है, जिसका मूल एकमात्र दृश्य का राग तथा सद्भाव है। अत: दृश्य के राग का अन्त कर इनमें भिन्नता मिटा दो, अर्थात् अभिन्न हो जाओ। अभिन्न होते ही निजानंद की लहरों से हृदय भर जाएगा, इन्द्रिय आदि के द्वार रुक जाएंगे, अर्थात् अपनी महिमा में आप स्थित हो जाओगे, दीनता तथा अभिमान की अग्नि शांत हो जाएगी, संयोग की दासता तथा वियोग का भय सदा के लिए मिट जाएगा।

प्यारे! 'जीवन' एक है, अनेक नहीं। अनेकता उसी 'एक' की एक अवस्था है, जो विषयों के राग से प्रतीत होती है। 'निजानंद' भाव तथा भाषा से परे है। विषय-रस मिटते ही निज-रस अपने आप आ जाता है। क्रिया तथा भाव से उत्पन्न होने वाला रस विषय-रस है। भेदभाव रूपी रोग मिटाने के लिए अभेद-भाव परम औषधि है। औषधि रोग को खाकर स्वत: मिट जाती है। दोनों के अन्त होने पर जो शेष रहता है, वही निजानंद है।

(45)

यदि आपने यह समझ लिया है कि, 'मैं शरीर-भाव से अतीत हूँ', तो फिर उसके अनुरूप जीवन बना लेना परम अनिवार्य है। शरीर-भाव से अतीत होते ही माना हुआ सद्भाव शेष नहीं रहता। माना हुआ सद्भाव मिट जाने पर निर्वासना आ जाती है, निर्वासना आने पर सच्चिदानन्दघन परम-तत्त्व से अभिन्नता स्वत: हो जाती है।

अपने में सच्चिदानन्दघन भगवान् की सद्भाव-पूर्वक स्थापना कर, अचिन्त हो जाना शरीर-भाव से अतीत होने का सुगम साधन है।

प्रणव का वास्तविक अर्थ—'यह' 'मैं' शरीरादि नहीं हूँ अथवा 'वह' 'मैं' सच्चिदानन्दघन हूँ'।

इन दोनों प्रकार के अर्थों में केवल कल्पना-भेद है, अर्थ-भेद नहीं, क्योंकि 'यह' मैं नहीं, इससे ही सच्चिदानन्दघन में प्रतिष्ठा हो जाती है, अथवा मैं 'सच्चिदानन्दघन' हूँ, इससे शरीर-भाव मिट जाता है, अर्थात् शरीर-भाव मिटने पर सच्चिदानन्दघन में प्रतिष्ठा होने पर शरीर-भाव का गल जाना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से 'यह' मैं नहीं अथवा 'वह' मैं हूँ, इन दोनों भावनाओं का एक ही अर्थ है।

प्रणव के उच्चारण के अन्त में क्रिया से भाव अधिक होना चाहिए। ज्यों-ज्यों क्रिया भाव से तद्रूप होती जाएगी, त्यों-त्यों भाव यथार्थ ज्ञान में विलीन होता जाएगा।

अत: उच्चारण के अन्त में अचिन्त होकर अपने में ही सच्चिदानन्दघन परम-तत्त्व का अनुभव करो।

स्वीकृति के अनुरूप सद्भाव होने पर स्वीकृति ज्ञान के समान ही मालूम होती है, अर्थात् विकल्परहित सद्भाव साधारणत: ज्ञान ही मालूम होता है, जो वास्तव में ज्ञान नहीं है। उस विकल्प-रहित सद्भाव के अनुरूप भाव क्रिया में विलीन हो, दृश्य की ओर ले जाता है, परन्तु अध्यात्म-जिज्ञासु की क्रिया भाव में विलीन हो, परम-तत्त्व से अभिन्न हो जाती है। अर्थात् भोग की ओर जाने में सद्भाव क्रिया में विलीन हो जाता है, और योग की ओर जाने में क्रिया भाव में विलीन हो, परम-तत्त्व से अभिन्न हो जाती है। अत: क्रिया भाव में विलीन कर, निज-स्वरूप का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाओ।

तत्त्व ज्ञान से वासनाओं की निवृत्ति होती है, किन्तु सीमित सद्भाव से वासना की उत्पत्ति होती है। अत: सद्भाव ज्ञान नहीं है।

शरीर से असङ्ग होते ही शरीर रूपी यन्त्र विश्व से अभिन्न हो जाएगा और आप विश्वनाथ से अभिन्न हो जाएंगे। 'विश्व' विश्वनाथ की एक अवस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ज्यों-ज्यों विश्वनाथ से अखण्ड प्रीति होती जाएगी, त्यों-त्यों प्रमाद स्वत: मिटता जाएगा। जिस प्रकार सूखी मिट्टी अपने आप झड़ जाती है, उसी प्रकार विश्वनाथ से अखण्ड प्रीति होने पर शरीर भाव अपने आप मिट जाता है, यह निर्विवाद सत्य है। अत: अपने में अपने प्रेमास्पद की स्थापना कर, सब कुछ उनके समर्पण कर, अचिंत तथा अभय हो जाओ, यही परम पुरुषार्थ है।

(46)

जिसने शरीरादि सभी को इस्तीफा दे रखा है, अर्थात् जिसने शरीर से ममता हटा ली है, उसके लिए स्कूल का इस्तीफा क्या मूल्य रखता है? वे धन्य हैं, जो छुट्टी पा चुके हैं! त्याग कुल का होता है, जुज का नहीं। प्रेम अपने से होता है, भिन्न से नहीं। गहराई से देखो, जिसका किसी प्रकार भी त्याग हो सकता है, उससे प्रेम नहीं हो सकता। प्रीति उसी से होती है, जिसका त्याग नहीं हो सकता।

त्याग स्थाई होने पर, जो शेष रहता है, वही प्रीति है। प्रीति की नहीं जाती, होती है। दृश्य की अरुचि का अर्थ त्याग का स्थाई होना है। अपने में प्रीति होने पर अपने से भिन्न अपने से बड़ा तथा छोटा कुछ भी नहीं अनुभव होता।

'ॐ' के उच्चारण करने का भाव यही है कि, 'मैं यह शरीर नहीं, बल्कि आनन्दघन आत्मा हूँ।' उच्चारण से क्रिया की कमी और भाव की प्रबलता का अर्थ यही है कि जब तक स्वरूप का प्रमाद न हो, तब तक उच्चारण न हो, अर्थात् आत्मानुभव निरन्तर जागृत् रहे। हृदय में निजानन्द की गंगा लहराती रहे, सब ओर अपना आप ही नजर आए।

ऐसी कोई चाह उत्पन्न नहीं होती, जिसका सम्बन्ध शरीर-भाव से न हो। आत्म-भाव होने पर सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। जब एक चाह की पूर्ति का आनन्द कहने में नहीं आता, तो विचारो, जिसकी सभी चाहें निवृत्त हो गई हैं, भला उसके आनन्द का कौन पार पा सकता है?

जिसने अपने सभी कर्मों का अन्त कर दिया है, उसके द्वारा होने वाले सभी कार्य अपने आप हो जाते हैं। संसार का भय उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक अपनी पूर्ति के लिए संसार की आवश्यकता होती है। आप अपने में से असमर्थता का भाव निकाल दीजिए, क्योंकि आप सभी संकल्पों का त्याग करने में समर्थ हैं। संकल्प की पूर्ति का लालच तो विषयी प्राणी के हृदय में होता है, उसी लालच के कारण बेचारा असमर्थता का अनुभव करता है। यह भली प्रकार समझ लो कि संकल्पपूर्ति के रस की अपेक्षा संकल्प-निवृत्ति का रस कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। जो साधक संकल्पपूर्ति तथा संकल्प-निवृत्ति के रस में अपने को आबद्ध नहीं करता, वही अनन्त नित्य-रस पाता है। उसके मिलने पर ही वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव होता है।

(47)

यदि प्राणी अपनी पूरी योग्यता के अनुसार जो कर सकता है, वह कर डाले, तो फिर 'करने' का कार्य समाप्त हो जाता है और उसकी अभिलाषा पूर्ण हो जाती है। सभी उलझनें उसी समय तक रहती हैं, जब तक अपने को बचाने की आदत रहती है। जिसने अपनी पूरी शक्ति लगा दी, उसने अपने मनोरथ को पूर्ण किया। सच्चा समर्पण अथवा सर्वत्याग करने पर कमी शेष नहीं रहती। जिज्ञासा पूर्ण होने पर तत्त्वज्ञान स्वयं हो जाता है। सद्भावपूर्वक

सम्बन्ध होने पर विरह स्वाभाविक होता है और विरह की पूर्णता होने पर मिलन अनिवार्य होता है।

सेवा वही कर सकता है, जिसको अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं होती। विषयेच्छाओं के निवृत्त होने पर स्वाभाविक अभिलाषा जागृत् होती है, अथवा यों कहो कि स्वाभाविक अभिलाषा जागृत होने पर विषयेच्छाओं की निवृत्ति होती है। स्वाभाविक विषय-निवृत्ति होना ही योग है। योग से शक्ति संचित होती है, पर शान्ति नहीं। स्वाभाविक पूर्ण असङ्गता होने पर निज-स्वरूप का स्वयं बोध हो जाता है। बोध होने पर परम शान्ति बिना बुलाए आ जाती है। योग तथा बोध होने से ही जीवन की पूर्णता अर्थात् शक्ति तथा शान्ति आ जाती है। योग के बिना शक्ति-हीनता नहीं मिटती और यथार्थ बोध के बिना शान्ति नहीं आती। शान्ति आने पर योग स्वाभाविक होने लगता है। योग होने पर यथार्थ बोध के लिए विचार अनिवार्य है।

मानी हुई सत्ताओं की अस्वीकृति हो जाना ही 'विचार' है। विचार अविचार को खाकर स्वयं मिट जाता है और अन्त में निजानन्द शेष रहता है। यह भली प्रकार समझ लो कि सद्भाव से भगवत्-शरणापन्न होने पर, योग स्वत: हो जाता है। योग कल्पतरु के समान है। अत: जिन साधकों में अध्यात्म-जिज्ञासा है, उनकी पूर्ति के लिए सर्व समर्थ भगवान् 'विचार' के रूप में प्रकट हो, अविचार को खाकर जिज्ञासा की पूर्ति करते हैं, अर्थात् तत्व-ज्ञान प्रदान करते हैं।

'विचार' बुद्धि का व्यापार नहीं है। बुद्धि तो केवल भोग की वास्तविकता बताने में समर्थ है। बुद्धि का व्यापार समाप्त होने पर सीमित अहं से उत्पन्न होने वाला प्रयत्न समाप्त हो जाता है। बस, उसी काल में लीलामय भगवान् जिज्ञासु में 'विचार' के रूप में, भक्त के लिए 'प्रीति' के रूप में एवं विषयी के लिए 'अनुकूल परिस्थिति' के रूप में प्रकट होते हैं।

(48)

आपकी मौज ने सभी को मौज प्रदान की है। जिस प्रकार अग्नि सभी लकड़ियों को अग्नि बना लेती है, उसी प्रकार निजानन्द से हरा-भरा जीवन सभी को आनन्द प्रदान करता है। 'मैं' का प्रयोग सब कुछ हो सकता है और सबसे परे भी हो सकता है। मौज में अपने को मत देखो, प्रत्युत 'अपने में' मौज को देखो, क्योंकि 'मैं' के बिना मौज प्रकाशित नहीं होती। उस 'मैं' को, जो सभी में परिपूर्ण है, अपने से ही 'अपने में' देखो।

निजानन्द की मस्ती इतनी बढ़ जानी चाहिए कि हृदय आदि छक जाय, दोष-युक्त सत्ता का अभाव हो जाय और इन्द्रियों के दरवाजे रुक जाएँ।

'सत्य क्या है?'—इसका कथन नहीं होता, प्रत्युत संकेत होता है। कथन करने के सभी साधन सीमित हैं और सत्य अनन्त है। अत: सत्य का किसी साधन द्वारा कथन नहीं हो सकता।

जिस प्रकार बुद्धि आदि विषय-प्रवृत्ति के साधन हैं, उसी प्रकार विषय-निवृत्ति अर्थात् 'योग' निजानन्द का साधन है।

साधारण साधक योग को ज्ञान मान लेते हैं। योग तो वास्तव में साधन है, साध्य नहीं। साधन का अभिमान गल जाने पर साधन उसी प्रकार साध्य से अभिन्न हो जाता है, जैसे नदी समुद्र से। अतः योग का अभिमान गल जाने पर ही तत्त्वज्ञान हो सकता है।

शरीर-भाव गल जाने पर विषय-निवृत्ति यानी निर्वासना स्वाभाविक होती है, अर्थात् किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

आनन्द की अभिलाषा न करो, प्रत्युत आनन्दघन प्रेमपात्र की अपने में स्थापना कर, सब प्रकार से अचिन्त हो जाओ।

(49)

जिसकी दृष्टि बिना ही दृश्य के स्थिर हो गई है, जिसका प्राण बिना ही निरोध के सम हो गया है और जिसका चित्त बिना ही आधार के शान्त हो गया है, वह योगी है।

दृष्टा, दर्शन और दृश्य, इन तीनों का एक हो जाना ही यथार्थ ज्ञान है। त्रिपुटी का अभाव होने पर ज्ञान और ज्ञान होने पर त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। दृश्य से असङ्ग होने पर दृश्य तथा दर्शन 'दृष्टा' में ही विलीन हो जाते हैं। ऐसा करना ही परम पुरुषार्थ है।

प्रत्येक प्रवृत्ति के साक्षी को प्रवृत्ति के अन्त में साक्षी-भाव से रहित होना अनिवार्य है। साक्षी-भाव आ जाने पर प्रवृत्ति का प्रभाव अपने पर नहीं होता और प्रवृत्ति के अन्त में अपने से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता। साक्षी-भाव का अनुभव होने पर निज-स्वरूप का ज्ञान होता है और ज्ञान में निष्ठा होने से जीवन-मुक्ति का अनुभव होता है। जीवन-मुक्ति के बिना दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि निरन्तर निजानन्द से छक जाने चाहिएँ। निज-रस आने पर सभी रस नीरस हो जाते हैं। जो अपने सिवाय किसी की ओर लेशमात्र भी नहीं देखता, वही निज-रस का अनुभव करता है।

अपने-आप में सन्तुष्ट हो जाने पर, मानी हुई दूरी तथा मानी हुई एकता मिट जाती है। मानी हुई एकता संसार से और मानी हुई दूरी आनन्द से होती है।

अपना मूल्य कम न होने पाए, यही 'पुरुषार्थ' है। शरीर से लेशमात्र भी सम्बन्ध न रहे, यही 'त्याग' है। अपने से भिन्न किसी प्रकार की सत्ता स्वीकार न हो, यही 'प्रेम' है।

प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थिति का अपने पर प्रभाव न होने देना महान् बल है। जिस पर परिस्थिति का प्रभाव नहीं होता, उसके सामने से परिस्थिति लज्जित होकर चली जाती है। प्यारे, वही मायापति है, जिस पर माया का प्रभाव नहीं होता। आप विश्व के प्रेम-पात्र हैं, क्योंकि सारा विश्व आपकी ओर दौड़ रहा है। आप दृश्य की ओर न देखो प्रत्युत उसकी ओर देखो, जो आपके बिना किसी भी प्रकार नहीं रह सकता। जिसका किसी प्रकार त्याग नहीं कर सकते, उसी में हृदय आदि की अचल स्थिति होनी चाहिए। निरन्तर अखण्ड प्रसन्न रहने का स्वभाव बनाओ। ज्यों-ज्यों प्रसन्नता बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों प्रतिकूलता लज्जित होकर हटती जाएगी। प्यारे, प्रसन्नता की ओर सभी देखते हैं; अत: सारा विश्व आपकी ओर देखेगा। दुखी की ओर दु:खहारी के अतिरिक्त और कोई नहीं देखता।

अत: संसार पर वही शासन कर सकता है, जो लेशमात्र भी दु:खी नहीं होता। दु:खहारी दुखी पर दया करते हैं और प्रसन्नता में निवास करते हैं। दु:ख उसको दुखी नहीं कर सकता, जिस पर वियोग का भय तथा संयोग की दासता शासन नहीं करती। जो वियोग से नहीं डरता, उससे सभी डरते हैं, अथवा यों कहो कि उससे सभी योग करते हैं। वियोग जीवन की परम आवश्यक वस्तु है। वियोग के बिना नित्य जीवन का अनुभव नहीं होता। वियोग से प्रेम होने पर किसी प्रकार का भय नहीं होता। वियोग अपना लेने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, अभय रहो, लेशमात्र भी चिन्ता न करो। चिन्ता-विलाप से रहित जीवन आस्तिक जीवन है, क्योंकि चिन्ता-विलाप नास्तिक प्राणी का भोजन है। वह बेचारा उसी के आधार पर जीवित है। जो प्राणी आस्तिक है उसके जीवन में चिन्ता-विलाप कहाँ? चिन्ता-विलाप-रहित होना ही वास्तविक सहनशीलता है। चिन्ता अप्राप्त वस्तु की होती है, विलाप वस्तु के वियोग का होता है। ये दोनों ही आस्तिक को शोभा नहीं देते।

(50)

थकावट उसी को होती है, जिसको प्रवृत्ति में रस आता है। प्रवृत्ति बेचारी स्वाभाविक निवृत्ति में विलीन होती है; उस स्वाभाविक निवृत्ति को अपना लो। अर्थात् प्रवृत्ति से द्वेष न करो और न उसे बुलाओ, यही निवृत्ति का अपना लेना है। अपने आप आए हुए कार्य को स्वार्थ-त्याग तथा सेवा-भाव पूर्वक प्रेम-पात्र के नाते कर देने और किसी अप्राप्त कार्य का आह्वान न करने से कार्य के अन्त में स्वाभाविक निवृत्ति आ जाती है, जो विचार तथा प्रीति जागृत् करने में सर्वदा समर्थ है।

'मैं क्या हूँ', यह जानने के लिए भी दूसरे की आवश्यकता हो गई, क्या ही विचित्र बात है! क्या आँख को किसी से देखा जा सकता है? कदापि नहीं, क्योंकि जो कुछ देखा जाता है, वह तो रूप होता है, आँख नहीं। अत: सभी प्रतीत होने वाली सत्ताओं से असङ्ग होने पर आप स्वयं अपने आपमें प्रतिष्ठित हो जाएँगे। असङ्ग होना क्रिया नहीं है, प्रत्युत प्रतीति में रस न लेना है, अर्थात् संयोग की दासता का त्याग है।

'मैं क्या हूँ,' यह प्रश्न कब उत्पन्न होता है? जब 'मैं' अपने को किसी सीमित व्यक्ति-भाव में आबद्ध कर देता है। उस बन्धन को तोड़ देना ही 'मैं' के यथार्थ स्वरूप को जान लेने का साधन है। अत: वस्तु, अवस्था तथा परिस्थितियों में अपने को आबद्ध मत होने दो। प्यारे! सभी वस्तु, अवस्था आदि को आप स्वयं प्रकाशित करते हो। उन सबकी सत्ता आपकी सत्ता से ही है। अत: अपने आप में नित्य-स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव करो, अर्थात् अपना अनुभव करने के लिए अपने से भिन्न की ओर मत देखो। क्रिया तथा भाव की जंजीरों को तोड़ दो। इन जंजीरों ने ही थकावट कर दी है। माना हुआ 'मैं' चोर के समान है। 'मैं' नित्य हूँ', यह भाव आते ही माना हुआ 'मैं' भाग जाएगा। इस भाव को भी बुद्धि का विषय न बनाओ, क्योंकि ज्ञान का चिन्तन ही अज्ञान है। अपने आप में सन्तुष्ट होने से माना हुआ 'मैं' मिट जाता है।

(51)

यदि भूतकाल का व्यर्थ-चिन्तन तथा भविष्य की आशा न की जाय, तो वर्तमान में ही प्रेमी प्रेम-पात्र से अभेद हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति में विलीन होती है। निवृत्ति प्रेम-पात्र से अभेद करने में समर्थ है। परन्तु साधारण प्राणी वर्तमान प्रवृत्ति के अन्त में भी आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन करते रहते हैं। इस भूल के कारण निवृत्ति भी प्रवृत्ति के समान

ही हो जाती है। अर्थात् व्यर्थ-चिन्तन भक्त में भक्ति और जिज्ञासु में विचार का प्राकट्य नहीं होने देता। विचारशील आगे-पीछे का चिन्तन नहीं करते; क्योंकि आगे-पीछे का चिन्तन उन प्राणियों को करना चाहिए, जिनको उस वस्तु की आवश्यकता हो, जो वर्तमान में नहीं है, जो वर्तमान में नहीं है, वह वास्तव में नहीं है, क्योंकि 'है' का अभाव नहीं होता। अत: प्रेमी का प्रेम-पात्र वर्तमान में ही है।

यदि 'नहीं' को, अर्थात् माने हुए 'मैं' को स्वाभाविक स्वयं-प्रकाश से अभेद कर दिया जाय, तो जिज्ञासु अपने-आप में सन्तुष्ट हो जाता है। तब स्वाभाविक प्रीति उदय होती है। स्वाभाविक प्रीति क्रिया तथा भाव से परे है, अथवा यों कहो कि प्रीतम का स्वभाव है। स्वाभाविक प्रीति के बिना असत्य का अभाव नहीं होता। अत: स्वाभाविक प्रीति का उदय होना अति आवश्यक है। गहराई से देखो, 'सत्य' असत्य को मिटाता नहीं, प्रत्युत प्रकाशित करता है। असत्य का अभाव करने के लिए तो अखण्ड प्रीति की आवश्यकता है। प्रीति क्रिया को हटाकर, प्रमाद को जलाकर, दूरी को मिटाकर एवं भिन्नता को गलाकर प्रीतम से अभिन्न कर देती है।

(52)

'मैं' से भिन्न कुछ है ही नहीं, ऐसा अनुभव करना ही माने हुए 'मैं' को स्वाभाविक 'मैं' में विलीन करना है। अर्थात् अपने से भिन्न सत्ता को स्वीकार मत करो।

(53)

निर्बलता दो प्रकार की होती है—

1. धार्मिक संस्कृति के अनुसार शरीर-दृष्टि से अपने को जैसा माना हो, उसके अनुसार जीवन का न होना। जैसे, प्रेमी मानकर प्रेम-पात्र से भेद शेष रहना निर्बलता है, अथवा भक्त मानकर विभक्त होना निर्बलता है, अथवा जिज्ञासु मानकर किसी भी अवस्था आदि से सम्बन्ध रखना निर्बलता है।

2. अपने से भिन्न सत्ता को स्वीकार कर, अपने लिए अपने से भिन्न की खोज करना परम निर्बलता है।

सबल वही है, जिसने इन दोनों प्रकार की निर्बलताओं का नितान्त अन्त कर दिया है। विचारशील प्राणी इन दोनों प्रकार की निर्बलताओं का अन्त करने में सर्वदा समर्थ है, क्योंकि निर्बलता का मूल कारण प्रमाद है, और कुछ नहीं।

यदि प्रमाद न हो, तो 'मैं' के अनुसार निष्ठा अर्थात् सद्भावपूर्वक स्वीकृति स्वयं हो जाती है। क्योंकि 'मैं' में सभी को अत्यन्त प्रियता होती है, अथवा यों कहो कि 'मैं' ही एक परम प्रेमास्पद है।

रोग-भगवान् 'मैं' को 'मैं' से अभिन्न करने के लिए विशेष सहायता करते हैं; क्योंकि शरीर की वास्तविकता का ज्ञान एवं उसके राग की निवृत्ति करा देते हैं, जिससे शरीर से असंगता स्वत: हो जाती है। शरीर से असंग होते ही अपने में ही अपने प्रेमास्पद का अनुभव होता है। इस दृष्टि से रोग आरोग्यता की अपेक्षा अधिक महत्त्व की वस्तु है, परन्तु उसका सदुपयोग होना चाहिए।

(54)

जीवन की प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, घटना को भूल जाते हैं। अर्थ को अपनाते ही उन्नति हो जाती है। 'वियोग' संयोग की अपेक्षा सबल तथा स्वतन्त्र है; अत: उसे अपना लेने में ही प्राणी का विशेष हित है। जो प्राणी वियोग को नहीं अपनाते, वे बेचारे योग यानी वियोग का अभाव, नित्य जीवन और नित्य रस नहीं पाते, जो वास्तव में प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता (Want) है। विषयेच्छाओं के जाल में फँसा हुआ प्राणी संयोग की दासता स्वीकार करता है। उस दासता की निवृत्ति के लिए वियोग भगवान् कृपा करते हैं। अत: वियोग को अपना लेना परम अनिवार्य है।

मानव-जीवन में विषय-प्रवृत्ति का स्थान केवल विषय-सत्ता की वास्तविकता जानने मात्र के लिए ही है। अर्थात् जिस राग को प्राणी विचार से नहीं निकाल सकता, उस राग की निवृत्ति के लिए धर्मानुसार प्रवृत्ति की जाती है। प्रवृत्ति, मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं है, परन्तु विषयासक्ति के कारण जब प्राणी उस प्रवृत्ति को ही मानव-जीवन का उद्देश्य मान लेता है, तब निवृत्ति सिखाने के लिए वियोग भगवान् विवश हो जाते हैं। अत: हम लोगों को वियोग भगवान् का हृदय से पूजन करना चाहिए।

(55)

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार शेष नहीं रहता, उसी प्रकार सर्वसमर्थ भगवान् का हो जाने पर प्रमाद शेष नहीं रहता। प्रमाद उसी समय तक जीवित है, जब तक प्राणी प्रेम-पात्र का नहीं हो जाता, अथवा

प्रमाद को 'प्रमाद' नहीं जानता। आपने लिखा है कि छाया की भाँति प्रमाद साथ ही लगा है। गहराई से देखिए, छाया कब तक दिखाई देती है? जब तक देखने वाले का मुँह सूर्य की ओर नहीं होता। सूर्य की ओर मुँह होने पर छाया किसी को नहीं दिखाई देती, यद्यपि छाया की ओर देखने पर भी छाया प्राप्त नहीं होती, क्योंकि छाया देखने वाले से आगे रहती है, परन्तु देखने का राग छाया से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होने देता। देखने का राग छाया की सत्ता स्वीकार करने पर होता है। छाया की सत्ता अपनी वास्तविक सत्ता के न जानने से जीवित रहती है। जिसको अपनी सत्ता का ज्ञान हो जाता है, उसको छाया में सत्ता-बुद्धि नहीं होती। यह नियम है कि जिसमें सत्ता-बुद्धि नहीं होती, उसमें राग नहीं होता। राग के बिना 'प्रमाद' जीवित नहीं रहता।

राग का अभाव अनुराग से होता है। अत्यन्त अनुराग बढ़ जाने पर राग करने वाला स्वभाव प्रेम-पात्र के अनुराग में विलीन हो जाता है। अनुराग के उत्पन्न न होने पर निर्जीव राग भी जीवित के समान विघ्न करता है। अत: राग को राग समझने के लिए तो विचार की आवश्यकता है, परन्तु राग का अभाव करने के लिए अनुराग की आवश्यकता है। विचार राग को मृतक बनाता है, अनुराग उस मृतक राग को खा जाता है। अनुराग के बिना विचार मस्तिष्क का रोग है और विचार के बिना अनुराग हृदय की पीड़ा है।

अनुराग तथा विचार दोनों से ही राग का अभाव होता है। हाँ, यह अवश्य है कि योग्यता-भेद से किसी को विचार के पश्चात् अनुराग और किसी को अनुराग के पश्चात् विचार अपने आप आता है। यदि विचार अनुराग में नहीं बदला, तो समझना चाहिए कि वह अपूर्ण था और यदि अनुराग विचार में नहीं बदलता, तो वह अपूर्ण था। विचार की पूर्णता अनुराग में और अनुराग की पूर्णता विचार में निहित है। विचार तथा अनुराग का भेद प्रारम्भिक है, अन्तिम नहीं।

(56)

न मालूम किस दृष्टि से आप लोग यह लिखते हैं कि साधन उपयुक्त तो है, किन्तु कठिन है! कर्तव्य-पालन कठिन नहीं होता, क्योंकि कर्ता का कर्त्तव्य वही है, जिसे कर्ता कर सकता है। किसी तृषावन्त प्राणी से पूछिए कि क्या पानी पीना कठिन है? योग्यतानुसार आवश्यक साधन करने में प्रत्येक साधन समर्थ है।

साधन में कठिनता का भाव केवल साधक का प्रमाद है, अथवा कठिनता का कारण साधन की योग्यता के प्रतिकूल साधन है, अथवा साधक आवश्यकता होने से पूर्व आवेश में आकर साधन में प्रवृत्त हुआ है, अथवा विश्वास की शिथिलता है तथा अनुभूति का निरादर करता है; अर्थात् ऐसा साधक निज-ज्ञान के अनुरूप जीवन नहीं बनाता। इन सभी कारणों से साधक को साधन में कठिनता प्रतीत होती है।

मस्तिष्क की निर्बलता मिटाने के लिए यथेष्ट विश्राम परम अनिवार्य है। यथेष्ट विश्राम प्राप्त करने के लिए वर्तमान में आए हुए कार्य को पूरी शक्ति लगाकर पूरा कर डालो और कार्य समाप्त होने पर काम से सम्बन्ध-विच्छेद कर दो। ऐसा करते ही मस्तिष्क को यथेष्ट विश्राम मिल जाएगा।

अब रही भगवच्चिन्तन की बात, उसके लिए यदि अपने से भिन्न में 'उनको' देखना है, तो केवल 'उनके' होकर रहो। हृदय में अपनत्व के नाते सदैव उनकी कृपा की प्रतीक्षा होती रहे। उनका होने पर प्रतीक्षा स्वयं उत्पन्न होगी, करनी नहीं पड़ेगी। विश्राम-भङ्ग उन्हीं चेष्टाओं से होता है, जो करनी पड़ती हैं। अपने आप होने वाली चेष्टाएँ थकावट उत्पन्न नहीं करतीं। यदि अपने प्रेम-पात्र को अपने में ही देखना है, तो अचिन्त हो जाओ।

(57)

जब प्राणी अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता, परन्तु फिर भी अन्य प्राणियों से आदर की इच्छा करता है, अनायास मिले हुए आदर को, जो किसी सज्जन की सज्जनता है, अपना आदर मान लेता है तथा अनादरयुक्त जीवन से घोर दुखी नहीं होता, तो यह उसकी परम भूल है। ऐसी भूल से दोष मिटाने की शक्ति नहीं रहती, अर्थात् उन्नति रुक जाती है। क्योंकि जब प्राणी अनायास मिले हुए आदर को मिथ्या ही अपना आदर मान लेता है, अर्थात् दूसरों की सज्जनता को अपना गुण समझने लगता है, तो ऐसी अवस्था में उसकी अपनी दृष्टि से अपने दोष देखने की शक्ति मिटने लगती है। सिद्धान्ततः दोष दिखाई देता है, गुण उत्पन्न होता है, क्योंकि दिखाई वही वस्तु देती है, जो अपनी बनाई हो, स्वाभाविक न हो।

यह नियम है कि प्रत्येक दोष दोषी का बनाया हुआ खिलौना है। जब दोषी अपना बनाया हुआ दोष देखना बन्द कर देता है, तब अपूर्ण (Incomplete) होने पर भी पूर्ण की भाँति सन्तुष्ट-सा रहता है। परन्तु उन्नतिशील प्राणी दूसरों की सज्जनता को अपना गुण नहीं मानता, अर्थात् दूसरों

के अनायास दिए हुए आदर को अपना आदर नहीं जानता, प्रत्युत दूसरों की सज्जनता समझता है। ऐसी अवस्था में अपनी दृष्टि से अपने दोष देखने की योग्यता आ जाती है। ज्यों-ज्यों अपने बनाए हुए दोष को देखने की शक्ति प्रबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों दोषी के दोष स्वत: व्याकुलता की अग्नि में जलते जाते हैं; क्योंकि अपने पतित होने का ज्ञान असह्य वेदना उत्पन्न करता है।

यह भली प्रकार समझ लो कि असह्य वेदना निर्दोषता का मूल साधन है, अर्थात् ऐसा कोई विकास नहीं होता, जिसका जन्म किसी वेदना से न हो। जब दोषी को अपने दोषों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब उसका दोषों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। क्योंकि जो बनाई हुई वस्तु होती है, उसका यथार्थ ज्ञान होने पर उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अत: अपनी दृष्टि से अपने दोषों का यथार्थ ज्ञान दोषों से सम्बन्ध-विच्छेद करने में सर्वथा समर्थ है। दोषों से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही निर्दोष परमतत्त्व आनन्दघन भगवान् से स्वत: सम्बन्ध हो जाता है। भगवान् से सम्बन्ध होते ही मन, इन्द्रिय आदि सभी यन्त्रों में स्वाभाविक पवित्रता लहराने लगती है, अर्थात् सभी गुण बिना ही प्रयत्न स्वत: आ जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही अन्धकार मिट जाता है, उसी प्रकार भगवान् से सम्बन्ध होते ही सभी दोष मिट जाते हैं। पतित को अपनाने के लिए पतित-पावन से भिन्न और कोई समर्थ नहीं है।

(58)

जिस प्रकार अन्न-जल प्राण का भोजन है, उसी प्रकार सत्संग समझ का भोजन है। सत्संग के बिना कोई भी मानव 'मानव' नहीं हो सकता, कारण, कि विवेक-युक्त प्राण जिसमें है, वही मानव है। विवेक-रहित प्राण तो पशु, पक्षी तथा वृक्षों में भी है। मानव-जीवन की महत्त्वपूर्ण वस्तु तो विवेक ही है। उसी के विकास के लिए सत्संग की परम आवश्यकता है। उस सत्संग को प्राप्त करने के तीन उपाय हैं, 1. सद्‌गन्थ 2. सत्पुरुष और 3. सर्वान्तर्यामी रूप से जो सत्स्वरूप परमात्मा प्राप्त है, उसका संग। उसका संग असत् के त्याग से प्राप्त हो सकता है। जिसे यह तीसरे प्रकार का सत्संग प्राप्त है, उसे सद्‌ग्रन्थ तथा सत्पुरुषों की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् ऐसा पुरुष स्वत: अपने में ही सत्पुरुष का दर्शन कर लेता है; कारण, कि तत्त्वरूप से तो सत् सर्वत्र विद्यमान है। असत् की इच्छाओं ने उसे ढक लिया है।

सत् की तीव्र लालसा जब असत् की इच्छाओं को खा लेती है, तब सत् से स्वत: अभिन्नता हो जाती है, अर्थात् अपने बनाए हुए दोषों का अन्त करते ही स्वत: सत्संग हो जाता है। इस सत्संग के लिए किसी उत्सव तथा संगठन की आवश्यकता नहीं है। एकान्त में मौन होकर, इस सत्संग को प्राप्त किया जा सकता है।

जो सर्वान्तर्यामी सत् का संग प्राप्त नहीं कर पाता, उसे सत्पुरुषों के द्वारा साधन का निर्माण कर सत्संग प्राप्त करना चाहिए। जिसे सत्पुरुषों की भी प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसे सद्ग्रन्थों में से अपनी योग्यतानुसार साधन का निर्माण करना चाहिए।

साधन-युक्त जीवन ही मानव-जीवन है। अत: मानव को 'मानव' होने के लिए प्रत्येक कार्य साधन-वृद्धि से करना अनिवार्य है। जो अपनी निर्बलताओं को देख, उनके मिटाने में प्रयत्नशील है, वही मानव है। अपने कर्त्तव्यों से दूसरों के अधिकारों को सुरक्षित रखना ही 'धर्म' है, क्योंकि अपने-अपने अधिकार सभी को स्वाभाविक प्रिय हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अपने लिए धार्मिक जीवन की आवश्यकता है। अत: धर्म मानवमात्र को स्वाभाविक प्रिय है। हाँ, यह अवश्य है कि प्राणी मोह-वश, जो अपने लिए प्रिय है, उसे दूसरों के प्रति नहीं करता, यह उसकी असावधानी है और कुछ नहीं। जब सभी अपने लिए धर्मात्मा की आवश्यकता अनुभव करते हैं, तब सभी को धर्मात्मा होना चाहिए। तभी सबकी पूर्ति हो सकती है।

(59)

(1) अशुद्ध संकल्पों को त्याग, शुद्ध संकल्पों का स्वाभाविक उत्पन्न होना, अर्थात् सहज स्वभाव से ही मन में सर्वहितकारी सद्भावनाओं का निवास करना।

(2) सहज भाव से उत्पन्न हुई सद्भावनाओं का स्थाई हो जाना, अर्थात् विकल्प-रहित होकर शुद्ध संकल्पों का दृढ़ हो जाना।

(3) शुद्ध संकल्पों का अभिमान गल जाने पर निस्संकल्पता का आ जाना। जिसके आते ही प्रेमी को प्रेमास्पद, तथा साधक को सिद्धि, एवं जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान स्वत: हो जाता है। उस निस्संकल्पता को प्राप्त करने के लिए अपने में से सभी सम्बन्धों का तथा सब प्रकार के चिन्तन का विचार-पूर्वक त्याग करना परम अनिवार्य है।

यह भली प्रकार समझ लीजिए कि प्राणी भलाई करने से भला नहीं होता, प्रत्युत भला होने पर भलाई, भक्त होने पर भक्ति, सेवक होने पर सेवा और अभिमानशून्य होने पर निर्वासना स्वत: आ जाती है। क्योंकि अहंता-परिवर्तन से प्रवृत्ति-परिवर्तन और अहंता के अभाव से वास्तविक निवृत्ति अपने-आप प्राप्त होती है। निर्वासना आध्यात्मिक उन्नति का प्राण है। शुद्ध संकल्प गुणों के विकास का साधन है। दृढ़ संकल्प निर्बलता भगाने का महामन्त्र है। अत: इन तीन प्रकार की अवस्थाओं में ही मन को विचरना चाहिए।

(60)

प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसी पर विश्वास करता है एवं किसी-न-किसी का होकर ही रहता है। अन्तर केवल इतना ही है कि साधारण प्राणी शरीर आदि परिवर्तनशील वस्तुओं पर विश्वास करता है और विचारशील प्राणी सर्व वस्तुओं से अतीत, सर्व-समर्थ, निर्विकार प्रेम-पात्र पर। साधारण प्राणी संसार तथा मोह द्वारा स्वीकार किए हुए सम्बन्धियों का, तथा विचारशील केवल सर्व-समर्थ प्रेम-पात्र का होकर रहता है। विचार-दृष्टि से विश्वास करने योग्य एकमात्र वही है, जिससे वियोग न हो, क्योंकि सतत परिवर्तनशील वस्तुओं पर विश्वास करने से दीनता, अभिमान, भय, चिन्ता आदि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं, जो पतन के मूल हैं।

जिससे वियोग नहीं होता, उस पर विश्वास करने से संयोग की दासता तथा वियोग का भय मिट जाता है और परतन्त्रता, दीनता एवं अभिमान शेष नहीं रहते; प्रत्युत स्वतन्त्रता, निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वत: उत्पन्न होने लगते हैं। जिससे वियोग नहीं होता, उससे देश-काल की दूरी कदापि नहीं हो सकती, अर्थात् केवल न जानने की दूरी हो सकती है। 'न जानने' की दूरी तीव्र जिज्ञासा होने पर अपने-आप मिट जाती है। क्योंकि ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों निज-ज्ञान का आदर करने की शक्ति स्वत: आती जाती है। ज्यों-ज्यों निज ज्ञान का आदर स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों सभी दोष अपने-आप मिटते जाते हैं। ज्यों-ज्यों दोष मिटते जाते हैं, त्यों-त्यों निर्दोषता से अभिन्नता होती जाती है। अत: निर्दोषता प्राप्त करने के लिए अपने बनाए हुए दोषों का अन्त कर देना ही सुगम साधन है।

यह भली प्रकार समझ लो कि ऐसा कोई दोष नहीं होता, जिसका जन्म निज-ज्ञान का निरादर करने से न हो। अर्थात् सभी दोष तब उत्पन्न होते हैं, जब प्राणी, जो जानता है, वह नहीं मानता, अथवा जो कर सकता है, वह नहीं करता। प्राकृतिक विधान के अनुसार केवल वही करना है, जो प्राणी कर सकता है। अर्थात् प्राप्त जानकारी तथा शक्ति का सदुपयोग ही उन्नति का मूल है। यद्यपि तत्त्व-जिज्ञासा प्रत्येक मानव में विद्यमान है, क्योंकि सब कुछ जानने की रुचि स्वाभाविक है, तथापि स्वाभाविक जिज्ञासा को भोग-वासना ढक लेती है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में सद्भाव तथा भोगासक्ति से वासनाओं का पोषण होता है, किन्तु निज-ज्ञान का आदर करने पर बुद्धिजन्य ज्ञान जागृत् होता है। ज्यों-ज्यों बुद्धिजन्य ज्ञान सबल तथा स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव गलता जाता है। जिस प्रकार इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव राग उत्पन्न करता है, उसी प्रकार बुद्धिजन्य ज्ञान का सद्भाव 'वैराग्य' उत्पन्न करता है। जिस काल में वैराग्यरूपी सूर्य रागरूपी अन्धकार को खा लेता है, बस उसी काल में तत्त्व साक्षात्कार स्वत: हो जाता है। अत: प्रत्येक जिज्ञासु बुद्धि-जन्य ज्ञान का आदर करने पर स्वतन्त्रतापूर्वक तत्त्व-निष्ठ हो जाता है।

प्रत्येक मानव में जानने की शक्ति, करने की शक्ति एवं भाव-शक्ति विद्यमान है। हाँ, यह अवश्य है कि योग्यता-भेद के कारण किसी में जानने की शक्ति की प्रबलता और भावशक्ति तथा क्रिया-शक्ति की न्यूनता होती है। इसी प्रकार किसी में भावशक्ति अथवा क्रियाशक्ति की प्रबलता और अन्य दोनों शक्तियों की न्यूनता होती है। जिन साधकों में जानकारी की प्रबलता होती है, वे 'जिज्ञासु' और जिनमें भावशक्ति की प्रबलता होती है, वे 'भक्त', एवं जिनमें क्रियाशक्ति की प्रबलता होती है, वे 'कर्मवीर' सुगमतापूर्वक हो सकते हैं। प्रत्येक साधक के आरम्भ-काल में भेद और अन्त में एकता होती है, क्योंकि सत्य में कल्पना-भेद होने पर भी सत्ता-भेद नहीं होता।

इन्द्रिय-जन्य स्वभाव की आसक्ति विचार, प्रीति तथा सेवा से ही मिट सकती है, यह निर्विवाद सत्य है। निज ज्ञान का आदर करने पर जिज्ञासु में सर्व-समर्थ लीलामय प्रेम-पात्र का विचार के स्वरूप में प्राकट्य होता है, जो अविचार को खाकर तत्त्व से अभिन्न कर, जिज्ञासु को कृतकृत्य कर देता है। भक्त में सर्व-समर्थ ज्ञानघन, प्रेम-पात्र का प्राकट्य 'प्रीति' के स्वरूप में होता है, जो राग-द्वेष को मिटाकर अनन्त रस एवं अनन्त प्रेम का आस्वादन प्रदान कर कृतकृत्य कर देता है। कर्मवीर में लीलामय, विज्ञानघन, सर्वशक्तिमान् प्रेम-पात्र का प्राकट्य 'सेवा' के रूप में होता है, जो स्वार्थभाव को खाकर, प्राणी-मात्र से अभिन्नता प्रदान कर कृतकृत्य कर देता है।

जानकारी के अनुरूप जीवन होने पर विचार के प्राकट्य की पात्रता प्राप्त होती है। मोह द्वारा माने हुए सभी सम्बन्धों का विच्छेद होने पर, सर्व-समर्थ प्रेमपात्र से अपनत्व स्वत: हो जाता है। अपनत्व होते ही प्रीति की गंगा लहराने लगती है। धर्म-प्रियता स्थाई होने पर सेवा करने की शक्ति आ जाती है। प्राणीमात्र को अपने समान समझने पर धर्मप्रियता स्थाई हो जाती है।

अविचाररूप भूमि में रागरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है, जिसमें भोगासक्तिरूपी फल लगता है। उसका आस्वादन करते ही प्राणी सुख-दु:ख में आबद्ध हो, परतन्त्र हो जाता है। बस, उसी काल में इन्द्रिय-जन्य स्वभाव में सद्भाव प्रतीत होता है। अत: उसका अन्त करने के लिए अविचाररूप भूमि को विचार द्वारा मिटा देना परम अनिवार्य है। अविचार कब से हुआ और क्यों हुआ, इसका कुछ पता नहीं; क्योंकि अविचार-रहित दशा का बोध आरम्भ में किसी साधक को नहीं होता। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि निज-जानकारी का निरादर करने पर अविचार की दृढ़ता अवश्य होती है।

साधारण प्राणी जानकारी का विशेष प्रयत्न करते हैं और विचारशील जानकारी के अनुरूप जीवन बनाते हैं। अपने लिए सभी प्राणी वही जानते हैं, जो जानना चाहिए, क्योंकि यथार्थ ज्ञान सर्वदा सर्वकाल में स्वयं विद्यमान है। अर्थात् ज्ञान किसी व्यक्ति की वस्तु नहीं और न किसी व्यापार का परिणाम है, क्योंकि ऐसा कोई अभ्यास नहीं होता, जिसका जन्म ज्ञान के बिना हो, अर्थात् सभी अभ्यासों के मूल में ज्ञान स्वत: सिद्ध है। इस दृष्टि से न जानने का दोष किसी भी जिज्ञासु में नहीं है, प्रत्युत जानकारी के निरादर का दोष है, जो स्वयं जिज्ञासु का बनाया हुआ है। अपने बनाए हुए दोष के मिटाने में साधक सर्वथा स्वतन्त्र है।

प्रत्येक दोषी को उसी दोष का अनुभव होता है, जिसका कारण वह स्वयं है; क्योंकि जिस निर्दोष-तत्त्व से दोष का अनुभव होता है, उसका कभी अभाव नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि दोष की आसक्ति निर्दोषता का प्रमाद उत्पन्न करती है। ज्यों-ज्यों जानकारी का आदर स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों प्रमाद स्वयं मिटता जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत प्रमाद की निवृत्ति होती है; क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश अनिवार्य है। जिससे उत्पत्ति तथा विनाश जाना जाता है, वह उत्पत्ति विनाश-युक्त कदापि नहीं हो सकता। इस दृष्टि से ज्ञान नित्य है।

साधारण प्राणी केवल प्रमादवश, 'ज्ञान होगा', ऐसा अनुमान करने लगते हैं। अज्ञान काल में भी ज्ञान का अभाव नहीं होता, प्रत्युत ज्ञान की कमी को अज्ञान कहते हैं। ज्ञान की कमी की वेदना ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों

जिज्ञासा स्थाई तथा सबल होती जाती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही अन्धकार मिट जाता है, उसी प्रकार पूर्ण जिज्ञासा होते ही, तत्त्व-ज्ञान स्वत: हो जाता है; क्योंकि जिज्ञासा-रूपी अग्नि प्रमाद को भस्मीभूत कर देती है। यह नियम है कि काष्ठ का अन्त होते ही अग्नि अपने-आप शान्त हो जाती है; उसी प्रकार प्रमाद का अन्त होते ही जिज्ञासा तत्त्व-ज्ञान से अभिन्न हो जाती है।

भिन्न को अभिन्न तथा अभिन्न को भिन्न स्वीकार करने पर, अथवा वियोग में संयोग स्वीकार करने पर, अथवा केवल स्वीकृतियों को सत्तारूप से स्वीकार करने पर, जिस मोह, प्रमाद एवं आसक्ति की उत्पत्ति होती है, वही अज्ञान है। इसके अतिरिक्त अज्ञान की कोई अलग सत्ता नहीं है। इस कारण संयोग में वियोग का अनुभव करने से अज्ञान स्वत: मिट जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि संयोग में तो वियोग का अनुभव किया जाता है और वियोग में संयोग केवल स्वीकार किया जाता है। विकल्परहित स्वीकृति भी सत्ता के समान प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में स्वीकृति सत्ता नहीं होती।

यह नियम है कि जिसको सत्ता से मिला दिया जाता है, उसमें सत्यता तथा प्रियता का भास होने लगता है। बस, इसी कारण स्वीकृतियों से स्थाई मोह हो जाता है। किन्तु संयोग में वियोग का अनुभव करने से निर्वासना आ जाती है। वासनाओं का अन्त होने पर स्वीकृतियों का अभाव हो जाता है। स्वीकृतियों का अभाव होते ही, स्वयं-प्रकाश सत्ता शेष रहती है। बस, उसी काल में अभिन्न से अभिन्नता एवं भिन्न से भिन्नता स्वत: हो जाती है।

'संयोग', भेदभाव-युक्त अथवा अभेदभाव-युक्त होता है। दोनों प्रकार का संयोग अहंभाव को सीमित कर, वासनाओं के जाल में आबद्ध करता है, जो दु:ख का मूल है। क्योंकि प्राणी की वास्तविक माँग तो अनन्त तथा असीम होने की है, जिसे वासनाएँ ढक लेती हैं। गम्भीरता-पूर्वक विचार करने से विदित होता है कि प्रत्येक मानव प्रथम अपने को यानी अहं को और तत्पश्चात् अपने विषय में विकल्परहित स्वीकृति को प्रकाशित करता है जिस प्रकार; 'मैं भारतीय हूँ' 'मैं यूरोपियन हूँ' अथवा 'मैं अमुक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदि का हूँ।' बस, इसी से अहंभाव सीमित हो जाता है, और अहंभाव के सीमित होते ही राग-द्वेष उत्पन्न होने लगते हैं, जो ह्रास के मूल हैं। यदि स्वीकृति प्राकृतिक विधान के अनुरूप हो, केवल मनगढ़न्त अर्थात् प्रमाद-युक्त न हो, तो साधनरूप अवश्य है, किन्तु जब साधक साधन को ही साध्य मान लेता है, तब साधन भी विघ्न बन जाता है।

अत: छिपे हुए राग को, जिसे विचार-पूर्वक नहीं मिटा सकते, प्रवृत्ति द्वारा मिटाने के लिए, साधनरूप से, यह आवश्यक है कि मानव प्राकृतिक

विधान के अनुसार सीमित काल के लिए अपने को धार्मिक स्वीकृतियों में आबद्ध कर ले, परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि ऐसा करने में निज-जानकारी का निरादर न होने पाए, क्योंकि निज-जानकारी प्राकृतिक विधान की कसौटी है। परन्तु जब मानव उस साधन-रूप स्वीकृति में जीवन-बुद्धि कर लेता है, अर्थात् उसे स्थाई मान लेता है, तब स्वीकृति साधन के स्थान पर विघ्न-रूप हो जाती है। वास्तव में तो केवल नित्य-जीवन में ही जीवन-बुद्धि होनी चाहिए। स्वीकृतियाँ तो सभी परिवर्तनशील होती हैं। जिस प्रकार आज जो गृहस्थ है, वही एक दिन संन्यासी है। अतएव परिवर्तनशील स्वीकृतियों में जीवन-बुद्धि होना घोर प्रमाद है।

जिस प्रकार दिन की पूर्णता होने पर रात्रि स्वयं आ जाती है, उसी प्रकार जानकारी से उत्पन्न स्वीकृति के अनुसार जीवन होने पर उससे उत्कृष्ट स्वीकृति, अथवा स्वीकृतियों से अतीत होने की योग्यता स्वत: आ जाती है।

सभी स्वीकृतियाँ मूल रूप से केवल तीन भागों में विभाजित हैं—विषयी, भक्त तथा जिज्ञासु। विषयीभाव की स्वीकृति विशेष देहाभिमान तथा इन्द्रियजन्य स्वभाव की आसक्ति से उत्पन्न होती है। इस कारण विषयासक्त प्राणी में अनेक प्रकार की स्वीकृतियाँ अवस्था-भेद से उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु यदि साधक उत्तरोत्तर उत्कृष्टता की ओर प्रगति करने लगता है, तो उसी विषयीभाव में से भक्त-भाव तथा जिज्ञासु-भाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। ज्यों-ज्यों क्रियाजन्य आसक्ति मिटती जाती है, त्यों-त्यों स्वार्थभाव गलता जाता है; ज्यों-ज्यों स्वार्थभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों राग 'त्याग' में और द्वेष 'प्रेम' में परिवर्तित होता जाता है। ज्यों-ज्यों त्याग तथा प्रेम की दृढ़ता होती जाती है, त्यों-त्यों विषयीभाव की स्वीकृति भक्त-भाव में विलीन होती जाती है।

हृदय-प्रधान साधक प्रीति द्वारा प्रीतम का अनुभव करता है और मस्तिष्क-प्रधान साधन जानकारी का आदर कर दोषों को त्याग, अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करता है। अन्तर केवल इतना है कि हृदय-प्रधान साधक प्रीति होने के पश्चात् जानता है और मस्तिष्क-प्रधान साधक जानने के पश्चात् प्रीति प्राप्त करता है।

भक्त तथा तत्त्वज्ञ यद्यपि एक ही परम-तत्त्व से अभिन्न होते हैं, किन्तु रसास्वादन में भिन्नता रहती है। 'तत्त्वज्ञ' अखण्ड नित्य, एक रस में एक ही भाव से स्थित होता है और 'भक्त', भाव का भेद होने के कारण अनेक प्रकार से उसी अनन्त नित्य रस को प्राप्त करता है। अर्थात् भक्त का रसास्वादन उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है, किसी एक अवस्था में आबद्ध नहीं रहता। किन्तु अनित्यता तथा जड़ता का दोष भक्त के रस में भी नहीं होता, क्योंकि प्रेमी

तथा प्रेम-पात्र में जातीय एकता और रसास्वादन की दृष्टि से केवल भाव की भिन्नता होती है। वह भी केवल प्रेमी की दृष्टि से, न कि प्रेम-पात्र की दृष्टि से। कभी-कभी प्रेमी प्रेम-पात्र बनकर और प्रेम पात्र प्रेमी बनकर अनेक प्रकार की लीलाओं का आस्वादन करते हैं। यद्यपि प्रेमी किसी भी काल में प्रेम-पात्र होने की रुचि नहीं रखता, किन्तु प्रेम-पात्र अपने अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्ययुक्त स्वभाव के कारण प्रेमी का प्रेमी बनकर प्रेमी को अपने से भी महान् बना देता है और स्वयं प्रेमी का ऋणी हो जाता है। यह उनकी सर्व-समर्थ, पतित्त-पावनी सुधामयी अहैतुकी कृपा है।

वास्तव में महान् वही है, जो अपने शरणागत को अपने से भी महान् बनाने में समर्थ हो, न कि अपने से दीन। इस दृष्टि से महत्ता केवल सर्व-समर्थ प्रेम-पात्र में ही सिद्ध होती है। अतः महत्ता की अभिलाषा की पूर्ति के लिए प्राणी को व्यक्ति तथा वस्तुओं की दासता से असंग हो, सर्व-समर्थ प्रेम-पात्र के शरणापन्न होना परम अनिवार्य है, जो प्रत्येक साधक स्वतन्त्रता पूर्वक हो सकता है। क्योंकि शरणापन्न होना एक भाव है, कर्म नहीं। कर्म के लिए अपने से भिन्न साधनों की आवश्यकता होती है, इस कारण प्राणी परतन्त्रता में आबद्ध होता है। परन्तु भाव के धारण या परिवर्तन में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की रुचि स्वतः महान् होने की है, परन्तु दीनता तथा अभिमान में आबद्ध हो जाने के कारण महान् होने की रुचि वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति की इच्छाओं में परिवर्तित हो जाती है। अतः महत्ता की अभिलाषा को स्थायी तथा सबल बनाने के लिए दीनता तथा अभिमान से मुक्त होना परम अनिवार्य है। गहराई से देखिए, ऐसी कोई परिस्थिति नहीं होती, जिससे उच्च तथा निम्न अन्य परिस्थिति न हो, अर्थात् प्रत्येक वस्तु तथा परिस्थिति में आबद्ध प्राणी अपने से उच्च तथा निम्न का स्वतः अनुभव करता है। इसी कारण उच्च को देख, दीनता में और निम्न को देख, अभिमान में आबद्ध हो जाता है।

दीनता का बन्धन त्याग से, और अभिमान का बन्धन सेवा से मिट जाता है, अर्थात् ऐसी कोई निर्बलता नहीं, जो त्याग से; और ऐसा कोई अभिमान नहीं, जो सेवा से मिट न जाता हो। यह भली प्रकार समझ लो कि त्याग दीनता को मिटाकर अभिमान उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत अभिन्नता प्रदान करता है। सेवा अभिमान को मिटाकर दीन नहीं बनाती, प्रत्युत पवित्र प्रीति उत्पन्न करती है।

यह नियम है कि जो दीन होता है, वही अभिमानी होता है। जो अपने से निर्बल को भयभीत नहीं करता, उसे अपने से सबल का भय कभी नहीं होता; क्योंकि प्राकृतिक विधान के अनुसार व्यक्ति जो देता है, वही पाता है। दीनता तथा अभिमान के मिटते ही अभिन्नता एवं प्रीति स्वतः आ जाती है। अभिन्नता से सब प्रकार का भय मिट जाता है और प्रीति से आनन्द का प्रादुर्भाव होता है, जो प्रत्येक प्राणी की वास्तविक माँग है और यही सच्ची महत्ता है। अतः आवश्यकता की पूर्ति एवं इच्छाओं की निवृत्ति के लिए, प्रत्येक साधक को केवल सर्व-समर्थ प्रेम-पात्र का होकर रहना चाहिए और उनकी अहैतुकी कृपा पर विकल्परहित विश्वास करना चाहिए। इसी पर प्राणी की सफलता एवं सार्थकता निर्भर है।

(61)

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। यदि वे नहीं सुनते, तो न सही। किन्तु दुखी के लिए कोई अन्य आश्रय भी तो नहीं है। अतः सब प्रकार से उनका ही होना पड़ेगा। हम अपने आपको धोखा देते हैं। वास्तव में सच्चाई के साथ उनके हो नहीं जाते। उनके हो जाने पर दुःख नहीं रहता, यह निर्विवाद सत्य है। जिस प्रकार अग्नि सब प्रकार की लकड़ियों को अपना स्वरूप बना लेती है, उसी प्रकार दुःखहारी, पतित-पावन, सर्वसमर्थ आनन्दघन भगवान् पतित-से-पतित प्राणी को भी अपना स्वरूप बना लेते हैं। परन्तु जब तक प्राणी उनके लिए उनका नहीं होता, प्रत्युत अनुकूल परिस्थिति के लिए होता है, तब तक दुखी का दुःख जीवित रहता है, अर्थात् उनके पवित्र प्रेम से वह वंचित रहता है।

प्रेम-पात्र का हो जाना मछली जानती है। आप उसकी ओर देखिए। मछली अपने प्रेम-पात्र जल के बिना कैसे रहती है? क्या करती है? प्रेम की महत्ता वही जानती है। अतः उससे प्रेम की दीक्षा लीजिए। उसके समान प्रेमाचार्य देखने में नहीं आया। मानव-जीवन में हार स्वीकार करने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। उन्नति से निराश होना परम भूल है। प्रेम-पात्र को अपने जीवन की वस्तु समझो। मां जब शिशु को गोद में लेना चाहती है, तब उसके खिलौने छीन लेती है। प्रेम जैसे अलौकिक तत्त्व के लिए संसार में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि प्रेम प्रेम-पात्र की वस्तु है। आप गम्भीरता-पूर्वक अपनी दृष्टि से अपने को देखिए। यदि आप वास्तव में उनके हो गए हैं, तो दुःख बुलाने पर भी नहीं आएगा। जिस प्रकार सूर्य तथा अन्धकार का मिलन कभी नहीं होता, उसी प्रकार प्रेम-पात्र तथा दुःख का मिलन कभी होता ही नहीं।

दुखी प्राणी अभागे नहीं होते। सच तो यह है कि अभागे वही हैं, जो सुखी हैं। क्योंकि दु:खी को आनन्दघन भगवान् मिलते हैं, सुखी को भोग। गहराई से देखिए, दुखी अर्जुन ने कृष्ण को लिया और सुखी दुर्योधन ने कृष्ण की सामग्री; किन्तु अन्त में विजय अर्जुन की हुई। हाँ, दु:खी उसी समय तक अभागा है, जब तक संसार की ओर देखता है। संसार से सच्ची निराशा होते ही दु:खहारी हरि दु:ख अवश्य हर लेते हैं, ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

(62)

जिससे सभी को जानते हैं, उसका जानना ही वास्तव में 'जानना' है, क्योंकि ज्ञान स्वयंप्रकाश नित्य तत्त्व है, किसी व्यक्ति का गुण नहीं। उससे अभिन्नता होने पर ही तत्त्व-ज्ञान होता है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-जन्य जानकारी सतत परिवर्तनशील है। अत: इन्द्रिय आदि के ज्ञान को तत्त्व-ज्ञान नहीं कह सकते।

आस्तिकता आ जाने पर संसार की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती, परतन्त्रता सदा के लिए विदा हो जाती है।

प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है। अनेक प्रवृत्तियाँ एक ही अर्थ में विलीन होती हैं।

जीवन की प्रत्येक घटना प्रेम-पात्र की ओर ले जाती है।

त्रुटि वही है, जो करने वाले को दिखाई दे। दोष वही है, जो करने वाले को मालूम हो, क्योंकि ऐसा कोई दोष नहीं होता, जो दोषी स्वयं नहीं जानता; सुखासक्ति के कारण निज-जानकारी का निरादर करता है। जो निज-ज्ञान का आदर नहीं करता, वह किसी अन्य के ज्ञान का आदर कदापि नहीं कर सकता। अत: पराए दोष देखने का स्वभाव मिटा दो।

(63)

प्यारे, प्रत्येक मिठाई में मीठापन एकमात्र चीनी का ही होता है। अत: जहाँ कहीं भी जिस किसी को जो कुछ ऐश्वर्य, माधुर्य एवं सौन्दर्य प्रतीत होता है, वह उसी अनन्त सौन्दर्य की छायामात्र है। प्यारे, छाया की ओर दौड़ने से प्राणी सूर्य से भी विमुख हो जाता है और छाया को भी नहीं पकड़ पाता और सूर्याभिमुख होते ही छाया भी पीछे दौड़ती है और सूर्य का प्रकाश भी मिलता है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो प्राणी अनन्त नित्य-सौन्दर्य

को त्याग, सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य की ओर दौड़ता है, वह न तो परिवर्तनशील सौन्दर्य को पाता है और न अनन्त नित्य-सौन्दर्य को पाता है। अर्थात् परिवर्तनशील सौन्दर्य की ओर दौड़ने वाला काम तथा राम किसी को भी नहीं पाता।

अत: प्रेमियों को सब प्रकार से केवल प्रेम-पात्र का ही हो जाना चाहिए। उनका हो जाने पर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। उनका होने के लिए, क्या संसार की सहायता की आवश्यकता है? कदापि नहीं, अर्थात् प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रतापूर्वक उनका हो सकता है। क्योंकि जिससे जातीय एकता तथा मानी हुई भिन्नता होती है, उससे अभिन्न होने के लिए एकमात्र सद्भाव ही साधन है। 'सद्भाव' कर्ता के स्वीकार करने की वस्तु है। अत: प्रत्येक साधक स्वतन्त्रतापूर्वक सर्व-समर्थ आनन्दघन भगवान् का हो सकता है।

(64)

हम लोग बड़ी भूल यही करते हैं कि सभी कार्यों को समान नहीं जानते, अर्थात् सद्भावपूर्वक प्रेम-पात्र के होकर प्रत्येक कार्य से उनका पूजन नहीं करते, इस कारण क्रिया-भेद होने पर प्रीति-भेद तथा लक्ष्य-भेद भी हो जाता है, जिससे किसी कार्य में प्रियता और किसी में अप्रियता उत्पन्न हो जाती है एवं हृदय में राग-द्वेष की अग्नि जलने लगती है। राग-द्वेष-युक्त प्राणी काम के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता।

प्यारे, भक्त के जीवन में अपना कुछ नहीं रहता। अत: उसका प्रत्येक कार्य प्रेम-पात्र की पूजन की सामग्री हो जाता है। क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति भेद नहीं होता और न लक्ष्य भेद होता है। परीक्षा की पुस्तकों को प्रेम-पात्र के पूजन का फल बनाओ। माँ उसी बालक से प्रसन्न रहती है, जो माँ की दी हुई आज्ञा का पालन करता है, अथवा माँ की कृपा की प्रतीक्षा करता है। कृपया बालक की ओर देखिए। बालक के सामने जो खेल आता है, उसी को खेलता है। कार्य को बोझ मत समझो, वरन् प्रेम-पात्र का पूजन समझो। प्यारे, प्रत्येक प्राणी को भिन्न-भिन्न स्थानों पर आदर्श अभिनय-कर्ता (Ideal Actor) होना चाहिए।

संसार की दासता मन से निकाल दो, यही 'त्याग है। संसार से अपना मूल्य बढ़ा लो, यही 'तप' है। सब प्रकार से प्रेम-पात्र के हो जाओ, यही 'भक्ति' है। अपनी प्रसन्नता के लिए किसी अन्य की ओर मत देखो, यही 'मुक्ति' है।

(65)

रोग का भय मत करो। रोग भगवान् संयम का पाठ पढ़ाने के लिए आते हैं। मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों आरोग्यता स्वत: आती जाएगी, क्योंकि मन तथा प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत: मन के स्वस्थ होने से शरीर भी स्वस्थ हो जाता है। वास्तव में तो शरीर की आसक्ति ही परम रोग है। विचारशील अपने को शरीर से असङ्ग कर सभी रोगों से मुक्त कर लेते हैं। रोग भोग का त्याग कराने के लिए आता है। इस दृष्टि से रोग भोग की अपेक्षा अधिक महत्त्व की वस्तु है। विचारशील को आए हुए रोग का सदुपयोग करना चाहिए।

(66)

प्राकृतिक विधान (Natural Law) न्यायपूर्ण है, अत: प्रत्येक प्राणी में आवश्यक शक्ति विद्यमान है। बुद्धि भले ही अल्प हो, किन्तु बुद्धि जिस देव की छाया में रहती है, वह अनन्त है। अर्थात् अनन्त में ठहरी हुई बुद्धि सभी आवश्यक कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकती है। हाँ, जब 'बुद्धि', मन और इन्द्रियों के अधीन हो जाती है, तब अवश्य पतन की ओर जाती है। प्यारे, भोगेच्छा तथा आनन्द की आवश्यकता प्राणी में उपस्थित है। भोगेच्छा स्थान-भेद से कई प्रकार की प्रतीत होती है। वास्तव में तो क्रिया-जन्य रस की आसक्ति तथा संयोग की दासता का नाम ही 'भोग' है, अर्थात् जो रस क्रिया के द्वारा उत्पन्न होता है, उसके लिए किसी-न-किसी प्रकार के संयोग अर्थात् संगठन की आवश्यकता होती है। जो इस संयोग से उत्पन्न होता है, उसका नाम ही भोग है। जब प्राणी संयोग में वियोग देखने लगता है, तब संयोग से उत्पन्न होने वाला रस उस पर शासन नहीं कर पाता। ज्यों-ज्यों संयोग के वियोग का भाव दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों भोगेच्छा स्वत: आनन्द की आवश्यकता में उसी प्रकार विलीन होती जाती है, जिस प्रकार प्रत्येक लकड़ी अग्नि से अभिन्न होती जाती है।

अत: जिस काल में आनन्द की आवश्यकता भोगेच्छा को खा लेती है, उसी काल में आनन्दघन भगवान् स्वत: अपना लेते हैं। प्यारे, भोगेच्छा आनन्द की आवश्यकता को मिटा नहीं पाती, प्रत्युत ढक लेती है, किन्तु आनन्द की आवश्यकता भोगेच्छाओं को खाकर आनन्द से अभिन्न कर देती है। साधारण प्राणी आनन्द की आवश्यकता को वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों की इच्छाओं में बदल देते हैं। बस, यही प्रमाद है। प्राणी की वास्तविक

आवश्यकता कोई वस्तु-विशेष नहीं है, क्योंकि प्राणी कालान्तर में सभी वस्तुओं का त्याग कर देता है, अथवा सभी वस्तुएँ उसका त्याग कर देती हैं। हमारा वही है, जो हमारे बिना किसी प्रकार नहीं रह सकता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वस्तु प्राणी की वास्तविक आवश्यकता नहीं है। वास्तविक आवश्यकता तो एकमात्र नित्य-जीवन (Eternal Life), नित्य-रस एवं नित्य-प्यार की है।

(67)

यदि प्राणी बनाए हुए सभी विश्वासों को निकाल दे, तो वास्तविक विश्वास स्वतः आ जाता है। प्यारे, जो 'है', उसके लिए किसी की गवाही एवं किसी विश्वास की आवश्यकता नहीं है। जो 'नहीं' है, उसमें सत्यता केवल एकमात्र विश्वास की है। संसार के सभी सम्बन्ध एवं सभी स्वीकृतियाँ केवल माने हुए विश्वास के आधार पर जीवित हैं। संसार की स्वीकृतियों को निकाल देने पर निर्वासना (Desirelessness) अपने आप आ जाती है। निर्वासना आते ही बुद्धि सम अर्थात् निरोध को प्राप्त होती है। बुद्धि के सम होते ही मन, इन्द्रियाँ आदि सभी यंत्र निर्विषय हो जाते हैं। मन, इन्द्रिय आदि के निर्विषय होते ही जगत् की सत्ता प्रतीत नहीं होती। जगत् की सत्ता का अभाव होते ही 'है' का ज्ञान स्वयं हो जाता है, क्योंकि अस्ति-तत्त्व का कभी अभाव नहीं होता। परन्तु 'नहीं' की आसक्ति 'है' की आवश्यकता जागृत् नहीं होने देती, प्रत्युत 'नहीं' की वासनाओं को जीवित रखती है।

'है', 'नहीं' को मिटाता नहीं प्रत्युत प्रकाशित करता है। 'है' की आवश्यकता 'नहीं' को खाकर 'है' से अभिन्न करती है। प्राणी 'है' से अभिन्न होकर ही 'है' को जानता है। अतः 'है' को जानने के लिए मन, बुद्धि आदि बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं है। जो मन, बुद्धि आदि को जानता है, मन, बुद्धि आदि उसे नहीं जान सकते। मन, बुद्धि आदि से असंग होकर जिज्ञासु तत्त्व-ज्ञान से अभिन्न होता है। मन, बुद्धि आदि का उपयोग दृश्य की वास्तविकता जानने में है, तत्त्व-ज्ञान में नहीं।

अतः मन, बुद्धि आदि द्वारा राग-द्वेष मिटाने का प्रयत्न करो। राग-द्वेष रहित होते ही इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में, बुद्धि अहंभाव में विलीन हो जाएगी। जिस प्रकार बर्फ नदी बनकर समुद्र से अभिन्न होती है, उसी प्रकार सीमित अहंभाव जिज्ञासा बनकर तत्त्व ज्ञान से अभिन्न होता है, यह निर्विवाद सत्य है। अतः असत्य द्वारा सत्य को जानने का प्रयत्न मत करो, प्रत्युत असत्य को त्यागकर सत्य से अभिन्न हो जाओ।

(68)

संसार उसी को प्यार करता है, जो संसार के काम आता है। संसार के काम वही प्राणी आता है, जो सब प्रकार से भगवान् का हो जाता है।

जब प्राणी तप नहीं करता, तब उसको रोग के स्वरूप में तप करना पड़ता है। ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

(69)

जब प्राणी सुख आने पर वह नहीं करता जो करना चाहिए, तब दु:ख अपने आप आ जाता है। दु:ख, जीवन की आवश्यक वस्तु है। दु:ख, प्राणी को त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। ज्यों-ज्यों त्याग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों दु:ख अपने आप मिटता जाता है।

(70)

सब प्रकार से आनन्दघन भगवान् का हो जाना ही वास्तव में भगवत्सेवा है। शरीर आदि वस्तुओं के द्वारा तो केवल संसार की सेवा हो सकती है, क्योंकि शरीरादि सभी वस्तुओं की संसार से अभिन्नता है। प्रेमी अपने द्वारा प्रेमपात्र की सेवा करता है, अर्थात् अपने में प्रेम-पात्र की स्थापना कर मन, इन्द्रिय आदि सभी सामग्री को उनके समर्पण कर, अचिन्त हो जाता है। ऐसा करने से शरीर विश्व-सेवा के योग्य एवं अहंभाव प्रेम-पात्र की सेवा के योग्य बन जाएगा। जिस प्रकार मिट्टी कुम्हार की होकर, कुम्हार की योग्यता से उसके काम आती है, एवं उसका प्यार पाती है, उसी प्रकार प्रेमी प्रेम-पात्र का होकर उनके अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य से प्रेम-पात्र के काम आता है, एवं उनका प्यार पाता है।

(71)

प्रश्न—जो बुद्धि ने समझा है, उसके अनुरूप मन क्यों नहीं होता?

उत्तर—यह प्राकृतिक विधान (Universal Law) है कि जो वर्तमान में व्याकुलता है, वही भविष्य में सफलता है। मन की खुराक रस है। जब उसको इन्द्रियों के रस में प्रियता नहीं रहती, अर्थात् उसमें दोष दिखाई देने लगते हैं, तब मन उसे अपना लेता है, जो बुद्धि ने यथार्थ समझा है। 'मन', बुद्धि और इन्द्रियों के बीच में रहता है। उसे इन्द्रियों की ओर से विमुख कर दो। बस,

उसी काल में 'मन' बुद्धि के अनुरूप हो जाएगा। यदि साधक ऐसा न कर सके, तो इन्द्रियों के द्वारा मन को बुद्धि ने जो समझा है, उसके अनुरूप व्यवहार में लगा दो, अर्थात् सेवा कार्य में लगा दो।

जब प्राणी संसार से अपना काम लेना चाहता है, तब मन इन्द्रियों का दास हो जाता है, परन्तु जब वह संसार के काम आने का प्रयत्न करता है, तब मन, इन्द्रियों की दासता से स्वतः छूट जाता है। क्योंकि ज्यों-ज्यों सेवा-भाव बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों स्वार्थ-भाव स्वतः गलता जाता है; ज्यों-ज्यों स्वार्थ-भाव गलता जाता है, त्यों-त्यों इन्द्रिय-जन्य रस नीरस होता जाता है और ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-जन्य रस नीरस होता जाता है, त्यों-त्यों 'मन', बुद्धि के अनुरूप होता जाता है। इन्द्रियाँ मन को सदोष सत्ता की ओर ले जाती हैं और बुद्धि मन को निर्दोष सत्ता की ओर प्रेरित करती है।

सच तो यह है कि ज्यों-ज्यों संसार के काम न आने की व्याकुलता, प्रेम-पात्र का प्रेम न मिलने की व्याकुलता एवं अपने आपको न जानने की व्याकुलता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों सभी दोष अपने आप मिटते जाते हैं। व्याकुलता रहित सभी साधन यंत्रवत् हैं।

(72)

आस्तिकता आ जाने पर भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। भक्त के जीवन में सभी गुण बिना ही प्रयत्न आ जाते हैं, क्योंकि भक्त आनन्दघन भगवान् अर्थात् निर्दोष तत्त्व से विभक्त नहीं होता। जो विभक्त नहीं होता, उसमें किसी दोष की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि सभी दोषों का मूल अस्ति-तत्त्व से विभक्त होना है। भक्त होने में मानव सर्वदा स्वतन्त्र है। जो किसी और का होकर नहीं रहता, वह भक्त होने का अधिकारी है। भक्त होने के लिए सभी स्वीकृतिजन्य सम्बन्धों का विच्छेद करना परम अनिवार्य है। सभी सम्बन्ध अपने बनाए हुए हैं। अपनी बनाई हुई वस्तु को मिटाने में प्राणी स्वतन्त्र है। यदि राग के कारण सम्बन्ध-विच्छेद का बल न हो, तो धर्मानुसार की हुई स्वीकृति के अनुरूप जीवन होना चाहिए। स्वीकृति के अनुरूप जीवन होने पर स्वीकृति-जन्य गुण-दोष का यथार्थ ज्ञान हो जाएगा। यह नियम है कि अनुकूल ज्ञान में प्रवृत्ति और प्रतिकूल ज्ञान से निवृत्ति स्वतः हो जाती है। प्रत्येक प्रवृत्ति की सार्थकता स्वाभाविक निवृत्ति तथा राग-रहित होने के लिए ही है। स्वाभाविक निवृत्ति आ जाने पर प्रेमी अपने में प्रीतम को पाता है।

(73)

जब तक प्राणी में किसी प्रकार का सीमित अहंभाव रहता है, तब तक किसी-न-किसी प्रकार के दोष का उत्पन्न होना अनिवार्य है। मुनियों में मुनि होने का भाव, ज्ञानियों में ज्ञानी होने का भाव, भक्तों में भक्त होने का भाव, जब तक जीवित रहता है, तब तक निर्दोषता से एकता नहीं होती, प्रत्युत सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध होते ही दोष मिटने लगते हैं; गुण प्रकाशित होने लगते हैं। किन्तु जब प्राणी उन गुणों का भोग करने लगता है, तो उसी समय गुण छिपने लगते हैं और उसी दशा में गुणों का अभिमान मुनियों में भी क्षोभ उत्पन्न करता है। यद्यपि उस क्षोभ से मुनियों का अहित नहीं होता, प्रत्युत हित ही होता है, क्योंकि मुनि होने का अहंभाव गल जाता है। सब प्रकार के अभिमानों के गल जाने पर सभी दोष समूल नष्ट हो जाते हैं। दोष निर्दोषता को किसी भी काल में मिटा नहीं पाता, प्रत्युत ढक लेता है; किन्तु निर्दोषता दोष को खा लेती है।

'उनके' सिखाने के अनेक ढंग हैं। कभी दोष को दिखाकर निर्दोष बनाते हैं, कभी दोषी बनाकर निर्दोषता का अभिमान गलाते हैं—यह उनकी लीला है। अत: उनके होकर उनकी कृपा की प्रतीक्षा सतत करते रहो, क्योंकि उनकी अहैतुकी सर्व-समर्थ, पतित-पावनी, सुधामयी कृपा उनको तथा उनकी माया को मोहित करने में सर्वदा समर्थ है।

(74)

जब प्राणी को अपनी दृष्टि से अपने दोष का ज्ञान हो जाता है, बस, उसी काल में दोष-निवृत्ति की शक्ति स्वत: आ जाती है। क्योंकि जिस ज्ञान से दोष दिखाई देता है, उसी ज्ञान से निर्दोषता की आवश्यकता जागृत होती है। ज्यों-ज्यों निर्दोषता की आवश्यकता प्रबल होती जाती है, त्यों-त्यों दोष स्वत: मिटते जाते हैं। प्यारे, दोष अनेक नहीं होते, एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है।

सभी दोषों का मूल एकमात्र यही है कि, 'संसार मेरे काम आ जाय।' उसके मिटाने का सुगम साधन यही है कि, 'मैं संसार के काम आ जाऊँ।' जब प्राणी संसार में संसार के लिए रहने लगता है, तब अन्त:करण स्वत: शुद्ध होने लगता है। जब प्राणी अपनी पूर्ति के लिए संसार की ओर नहीं देखता, तब संसार के काम आने की योग्यता स्वत: आ जाती है। उस मिली हुई योग्यता का सदुपयोग करने पर प्राणी योग्यता के सम्बन्ध से भी मुक्त हो

जाता है। योग्यता का दुरुपयोग करने पर योग्यता की दासता उत्पन्न हो जाती है तथा कालान्तर में योग्यता भी छिन जाती है। क्योंकि प्राकृतिक विधान (Universal law) उस योग्यता को छीन लेता है, जो दुखियों के काम नहीं आती।

अत: संसार से असंग होने पर भगवान् की कृपा से जो योग्यता मिले, उसे विश्व-सेवा में लगा दो। ऐसा करने से साधक अपने में ही अपने प्रीतम को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। संसार के काम न आने की व्याकुलता तथा प्रेम-पात्र का प्रेम न मिलने की व्याकुलता एवं अपने आपको न जानने की व्याकुलता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों सभी विकार अपने आप मिटते जाते हैं; क्योंकि वर्तमान की व्याकुलता भविष्य की सफलता होती है।

(75)

अपने दु:ख का कारण किसी अन्य को कभी मत समझो, क्योंकि दु:ख वास्तव में दुखी की भूल से होता है। यदि स्वीकार किए हुए भाव के अनुरूप प्रवृत्ति नहीं कर सकते, तो उस स्वीकृति का त्याग कर दो, परन्तु स्वीकृति के विपरीत चेष्टा मत करो। क्योंकि कुछ न करने से हानि नहीं होती, प्रत्युत विपरीत करने से हानि होती है। पापी को मिटाने के लिए उसका पाप ही काफी है, अर्थात् पाप स्वयं पापी को मिटा देगा। सबसे बड़ा प्रयत्न यही है कि पापी से सम्बन्ध-विच्छेद कर दो। बुराई का उत्तर बुराई से देना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता, क्योंकि उससे दोनों की हानि ही होती है। प्राणी स्वयं बुरा होकर बुराई करता है। अत: बुराई का उत्तर बुराई के द्वारा देने के लिए स्वयं अपने को बुरा बनाना पड़ेगा। इस कारण विचारशील प्राणी को बुराई का उत्तर बुराई से नहीं देना चाहिए।

आपका पवित्र हृदय प्रेम का भूखा है। कामना-युक्त प्राणियों से प्रेम की आशा परम भूल है। प्रेम करना तो केवल एकमात्र श्यामसुन्दर ही जानते हैं। आप उनके होकर रहो, उनके पवित्र प्रेम की प्रतीक्षा करो। कामना-युक्त प्राणियों से प्रेम की आशा न करो, अर्थात् उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लो। स्वधर्म-निष्ठ सम्बन्धियों की यथा-शक्ति प्रेम-पात्र के नाते सेवा करती रहो, अर्थात् शरीर विश्व की सेवा में लगा रहे और हृदय प्रेम-पात्र के प्रेम से छका रहे।

(76)

प्रश्न—निर्दोष तथा पवित्र जीवन होने का सुगम उपाय क्या है?

उत्तर—तत्त्व-दृष्टि से निर्दोषता स्वाभाविक है और दोष प्राणी की बनाई हुई वस्तु है। जो बनाई हुई वस्तु होती है, वह अस्वाभाविक (Artificial) होती है। अस्वाभाविक प्रवृत्ति अनायास अर्थात् स्वत: नहीं हो जाती। उसके लिए अनेक बार संकल्प-विकल्प करने पड़ते हैं। यह नियम है कि जब तक संकल्प दृढ़ नहीं होता, तब तक वह प्रवृत्ति के स्वरूप में नहीं आता। इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पवित्र प्रवृत्ति के लिए पवित्र संकल्प का दृढ़ होना परम अनिवार्य है। पवित्र संकल्प की दृढ़ता के लिए अपवित्र संकल्प का अभाव होना परम आवश्यक है, अर्थात् अपवित्र संकल्पों का अन्त करने पर ही पवित्र संकल्प उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि दोष मिटने पर ही गुण उत्पन्न होता है। दोष होते हुए गुणों का लेप चढ़ाना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता।

अत: मन में उन संकल्पों को मत उठने दो, जो धर्मानुसार न हों, एवं जिनके प्रकाशित करने में संकोच हो। मन में उन्हीं संकल्पों को उत्पन्न होने दो, जिनको माता-पिता तथा गुरु-जनों के सामने स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्भयता से प्रकाशित कर सकते हो। इस सुगम उपाय से सभी अपवित्र प्रवृत्तियों का नितांत अन्त हो जाएगा। यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

(77)

प्रश्न—मित्रता किसके साथ की जा सकती है?

उत्तर—मित्रता उसी के साथ की जा सकती है, जिससे जातीय एकता हो और मानी हुई भिन्नता हो, अर्थात् स्वरूप से एकता और भाव तथा गुणों की भिन्नता हो। शरीर की विश्व के साथ जातीय एकता एवं मानी हुई भिन्नता है। जीव की ईश्वर के साथ जातीय एकता एवं मानी हुई भिन्नता है। गुरु की शिष्य के साथ जातीय एकता और मानी हुई भिन्नता होती है। अर्थात् शरीर प्रेमी है, तो विश्व प्रेम-पात्र है; जीव प्रेमी है, तो ईश्वर प्रेम-पात्र है तथा शिष्य प्रेमी है, तो गुरु प्रेम-पात्र है। अत: सच्ची मित्रता इन्हीं तीन स्थलों में हो सकती है। परन्तु व्यवहार कोटि में दो सखाओं, दो सखियों एवं पति-पत्नी में भी हो सकती है, क्योंकि मित्रता का अर्थ भिन्नता न रहना है।

व्यवहार दृष्टि से केवल इन तीनों स्थलों के अतिरिक्त और सभी के साथ समाज एवं संस्कृति के नियम के अनुसार नाता हो सकता है। नाता संस्कृति के अनुसार भाव है, भिन्नता नहीं। नाता तथा भिन्नता में केवल इतना अन्तर है कि नाते के अनुरूप सीमित क्रिया की जा सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि

क्रिया-भेद होने पर भी विचारशील प्रीति-भेद नहीं करते। नाता क्रिया-जन्य रस की आसक्ति मिटाने के लिए अर्थात् क्रिया को भाव में बदलने के लिए संस्कृति के अनुसार साधन-मात्र बनाया जाता है। अर्थात् नाता स्वीकार करने पर क्रिया इन्द्रियों के स्वभावानुसार नहीं होती, प्रत्युत धर्मानुसार स्वीकृति के अनुरूप होती है। इन्द्रियों के स्वभावानुसार चेष्टाएँ पशु कोटि के प्राणियों में देखने में आती हैं। मनुष्य कोटि में धर्मानुसार भाव-जन्य क्रिया की जाती है, क्योंकि धार्मिक संस्कृति क्रिया-जन्य रस को अर्थात् इन्द्रियों की दासता को मिटाने में समर्थ है।

मनुष्य-जीवन क्रिया के जीवन अर्थात् पशु कोटि के जीवन से भाव के जीवन में बदलने के लिए परम आवश्यक है। जब भाव का जीवन सिद्ध हो जाता है, तब भाव के जीवन से ज्ञान के जीवन में बदलने के लिए ऋषि-जीवन का आरम्भ होता है। ऋषि-जीवन के आ जाने पर जीवन की पूर्णता एवं सार्थकता सिद्ध होती है, अर्थात् प्रेमी प्रेम-पात्र से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाता है। प्रेमी और प्रेम-पात्र का अभेद सिद्ध करने के लिए मित्रता का होना परम अनिवार्य है।

अत: यह बात अनेक उक्तियों एवं जीवन की अनेक अनुभूतियों से भली प्रकार निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि तत्त्व-दृष्टि से मित्रता उपरोक्त तीन स्थलों में ही हो सकती है और व्यवहार-दृष्टि से दो सखाओं में, दो सखियों में एवं पति-पत्नी में ही हो सकती है। सखा एवं सखियों की मित्रता का अर्थ एक दूसरे की हितकारी क्रियाओं का करना है। पति-पत्नी की मित्रता का अर्थ छिपे हुए काम की निवृत्ति करने का है। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि पति-पत्नी की मित्रता नित्य मित्रता है। वह केवल छिपे हुए राग की निवृत्ति के लिए एवं सीमित काल के लिए स्वीकार की जाती है, क्योंकि धर्मानुसार की हुई प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति उत्पन्न कर देती है। स्वाभाविक निवृत्ति आ जाने पर सच्ची मित्रता करने की योग्यता आ जाती है। व्यावहारिक मित्रता योग्यता सम्पादन करने का साधन-मात्र है, जीवन नहीं। मित्रता का वास्तविक रस उपरोक्त तीन स्थलों पर ही प्राप्त होता है।

व्यावहारिक जीवन में नाते का स्थान बड़ा ही सुन्दर है। उससे जीवन में सामाजिक दोष एवं सामाजिक पतन कदापि नहीं होता। अर्थात् सामाजिक दोषों की निवृत्ति के लिए नाते का आदर करना परम अनिवार्य है। छिपी हुई आसक्ति के आवेश में आकर युवक एवं युवतियाँ मन को पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगकर, नाते के स्थान को मिटाते हुए बनावटी मित्रता को स्थापित कर इन्द्रिय-लोलुपता की पूर्ति करने का प्रयत्न करके समाज में अनेक दोष उत्पन्न

कर देते हैं और अन्त में बेचारे स्वयं घोर दुखी होते हैं। अतः यह अखण्ड सत्य है कि मित्रता उसी के साथ की जा सकती है, जिससे जातीय एकता और मानी हुई भिन्नता हो।

(78)

संसार के काम न आने का दुःख, प्रेम-पात्र का प्रेम न मिलने का दुःख, अपने आपको न जानने का दुःख; ये तीनों प्रकार के दुःख ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते हैं; त्यों-त्यों सभी निर्बलताएँ स्वयं मिटती जाती हैं।

साधारण प्राणी जब सीमित तथा परिवर्तनशील सुखों से सन्तुष्ट होने लगता है, तब आलस्य, अकर्मण्यता तथा प्रमाद अपने-आप आ जाता है। बड़े-बड़े भोगों की इच्छा ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कर्मशीलता अर्थात् शुभ कर्मों में रुचि बढ़ती जाती है। आस्तिकता आते ही कर्म की रुचि सेवा में बदल जाती है, और सेवा त्याग में विलीन हो, परम-तत्त्व से अभिन्न कर देती है।

(79)

मानव-जीवन की सार्थकता यही है कि शरीर विश्व के काम आता रहे, हृदय प्रेम-पात्र की प्रीति से छका रहे, एवं अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव हो। जब तक ऐसा न हो, तब तक, न होने की व्याकुलता की अग्नि उत्तरोत्तर प्रज्वलित होती रहे।

प्राणी जिसको अपने जीवन की वस्तु मान लेता है, उसके न होने की व्याकुलता स्वतः होने लगती है। व्याकुलता उसी के लिए नहीं होती, जिसको हम वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं मानते।

जो प्राणी अपने स्थान पर ठीक रहता है, उसकी सेवा अनन्त शक्ति (Universal Energy) स्वतः करने लगती है। सब प्रकार से उनका हो जाने पर अचिन्तता एवं अहैतुकी कृपा की प्रतीक्षा स्वतः होने लगती है। अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करने से और प्राप्त वस्तुओं को अपना न समझने से सभी निर्बलताएँ निर्जीव हो जाती हैं।

(80)

जीवन की घटनाओं के अर्थ का निरादर अनुभूति के अनुरूप जीवन नहीं होने देता, अर्थात् निज-ज्ञान का आदर नहीं हो पाता। अनुभूति का निरादर

क्यों होता है? इसका मूल कारण हृदय में छिपी हुई भोगासक्ति है। निज-ज्ञान का आदर दोष को प्रकाशित करता है और निर्दोषता की आवश्यकता जागृत् करता है। दोष की अनुभूति निर्दोष-तत्त्व के द्वारा मिले हुए ज्ञान से होती है। क्योंकि निर्दोष-तत्त्व अनन्त-ज्ञान का भंडार है, एवं सर्वदा विद्यमान है, अर्थात् उसका अभाव नहीं होता। निर्दोष-तत्त्व अपने को तथा अपने से भिन्न को स्वयं प्रकाशित करता है। जब प्राणी प्रमादवश प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग अर्थात् मिले हुए ज्ञान का आदर नहीं करता, तब निर्दोषता से दूरी और दोष से समीपता स्वत: भासने लगती है। बस, उसी काल में प्राणी निज-ज्ञान का निरादर करने लगता है, जो परम भूल है। दोष कितना ही सबल क्यों न हो, किन्तु निर्दोषता को मिटा नहीं पाता, प्रत्युत ढक लेता है। परन्तु निर्दोषता की आवश्यकता दोष को खाकर निर्दोषता से अभिन्न कर देती है।

यह भली प्रकार समझ लो कि निर्दोषता भी दोष को मिटाती नहीं, प्रत्युत प्रकाशित करती है और दोष भी निर्दोषता को मिटा नहीं पाता, प्रत्युत ढक लेता है। दोष के मिटाने में एवं निर्दोषता से अभिन्न करने में एकमात्र निर्दोषता की आवश्यकता ही समर्थ है। इस दृष्टि से निर्दोषता की आवश्यकता निर्दोषता से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है।

प्यारे, प्रेमी तथा प्रेम-पात्र के बीच में जो पर्दा है, वह केवल प्रेमी का बनाया हुआ है, प्रेम-पात्र का नहीं। जब प्रेमी अपनी दृष्टि से अपने को देखता है, तब उसे बनाई हुई दूरी स्वत: मालूम हो जाती है। प्रेमी तथा प्रेम-पात्र में देश-काल की दूरी नहीं होती है, क्योंकि प्रेम-पात्र अनन्त, नित्य एवं महान् हैं।

सभी दोष दोषी की सत्ता के बिना निर्जीव होते हैं। कोई भी दोष दोषी की कृपा के बिना जीवित नहीं रह सकता। अत: जिस काल में दोषी अपनी दृष्टि से दोष को देखकर, अपने को दोष से असंग कर लेता है, बस, उसी काल में दोष सदा के लिए मिट जाता है। परन्तु जो दोषी दोष को देखकर, ऐसा सद्भाव करता है कि, 'मैं दोषी हूँ', उसकी सत्ता पाकर दोष दोषी पर शासन करने लगता है। उसी भूल से प्राणी अनुभूति का निरादर करता है। क्योंकि यह अखण्ड नियम है कि जिससे प्राणी अभेद-भाव का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, उसमें सत्यता तथा प्रियता आ जाती है। अत: अपने में से विचारपूर्वक सभी दोषों का सम्बन्ध-विच्छेद कर, निर्दोषता की स्थापना कर लो, क्योंकि पवित्र होने पर पवित्रता आती है।

यह भली प्रकार समझ लो कि जिससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लोगे, वह आप पर शासन नहीं कर सकता, अर्थात् उसकी सत्यता तथा प्रियता मिट जाएगी और जिससे सम्बन्ध स्वीकार कर लोगे, उसमें सत्यता तथा प्रियता

उत्पन्न हो जाएगी। इस कारण दोषों से सम्बन्ध-विच्छेद एवं निर्दोषता से सम्बन्ध की दृढ़ता परम अनिवार्य है। पतित-से-पतित प्राणी भी सर्व-समर्थ पतित-पावन, आनन्दघन भगवान् से सम्बन्ध स्वीकार कर, पवित्र हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

(81)

अपनी निर्बलता का ज्ञान उन्नति का साधन अवश्य है, परन्तु निर्बलता होने की वेदना होनी चाहिए। ज्यों-ज्यों निर्बलता की वेदना बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों सभी दोष मिटते जाते हैं; क्योंकि दुःख दुःखहारी हरि की खुराक है। 'मैं' सब कुछ है, अथवा कुछ नहीं। जिसके साथ किसी प्रकार की स्वीकृति सम्मिलित है, उस 'मैं' का कुछ भी मूल्य नहीं और जिस 'मैं' से सभी स्वीकृतियाँ निकल गई हैं, उस 'मैं' में आनन्दघन भगवान निरन्तर निवास करते हैं।

अतः आत्मानुभव के लिए अपने में से सभी स्वीकृतियाँ निकाल दो। ऐसा करने से आत्मानुभव स्वतः हो जाएगा। जिसकी आवश्यकता मिट नहीं सकती, उसी से वास्तविक एकता है, संसार से नहीं। क्योंकि संसार की सभी इच्छाएँ प्रयत्न से मिट जाती हैं, किन्तु नित्य-जीवन, नित्य-रस, नित्य-प्यार की आवश्यकता निरन्तर बनी ही रहती है, अर्थात् उसकी पूर्ति अनिवार्य है, निवृत्ति नहीं।

संसाररूपी अभिनय में सीमित काल के लिए भोगासक्ति मिटाने के लिए पार्ट (Part) मिला है। उसे प्रेम-पात्र के नाते धर्मानुसार कर डालो, परन्तु उसमें जीवन-बुद्धि न हो। क्योंकि जीवन-बुद्धि हो जाने पर अभिनय में सद्भाव हो जाएगा। सद्भाव होने पर वासनाओं की उत्पत्ति होगी। अभिनय में अभिनय-बुद्धि होने पर सद्भाव मिट जाएगा। सद्भाव मिट जाने पर निर्वासना आ जाएगी। निर्वासना आने पर की हुई प्रवृत्ति राग-द्वेष रहित हो जाएगी। राग-द्वेष मिटते ही हृदय त्याग तथा प्रेम से भर जाएगा और फिर अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव होगा और प्रेम-पात्र से भिन्न अन्य सत्ता शेष न रहेगी।

वियोग का भय नित्य-योग की आवश्यकता जागृत् करता है। दुःख का चिन्तन कुछ अर्थ नहीं रखता। पूर्ण दुखी वर्तमान में ही दुःख से छूट जाता है, क्योंकि सर्व-समर्थ पतित-पावन दुःखहारी हरि दुःख को हर लेते हैं।

संसार में संसार के लिए रहो। अपने लिए संसार की आशा करना सच्चाई से दूर होना है। विचारशील प्राणी को व्यर्थ-चिन्तन करने की फुर्सत नहीं मिलती। जो प्राणी सेवा से अपने को बचाता है, उसी के मन में आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन होता है, जो अवनति का मूल है। अत: वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, संयोग में ही वियोग देखने का प्रयत्न करो। ऐसा करने से दु:खहारी हरि से अभिन्नता हो जाएगी।

नि:संकल्पता आ जाने पर 'है' अर्थात् सत् में प्रतिष्ठा और 'नहीं' अर्थात् असत् से सम्बन्ध-विच्छेद स्वत: हो जाता है। क्योंकि जो 'नहीं' है, उसका संकल्प करते ही उससे स्वीकृतिजन्य सम्बन्ध होता है और जो 'है', उसका संकल्प करते ही उससे दूरी होती है। अत: नि:संकल्प होने पर 'है' से एकता और 'नहीं' से भिन्नता अपने-आप हो जाती है। जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, उनको विचारपूर्वक निकाल दो, अथवा धर्मानुसार पूरा कर दो। किन्तु नवीन संकल्प उत्पन्न मत होने दो। ऐसा करने से सभी निर्बलताएँ समूल नष्ट हो जाएँगी।

आवश्यकता से अधिक जानने तथा सुनने पर समझ को अजीर्ण हो जाता है। अत: जितना जाना हो, उतना कर डालो। जानकारी के अनुरूप जीवन होने पर जानकारी स्वयं बढ़ जाती है। जानकारी का निरादर अर्थात् उसके अनुरूप जीवन न होना पतन का कारण है। निवृत्ति स्वाभाविक होनी चाहिए। प्रवृत्ति संयम-पूर्वक की जाय। ऐसा करने से निर्बलताएँ निर्जीव होने लगेंगी।

(82)

धन का वास्तविक अर्थ शक्ति है, जो प्राणी-मात्र को प्रिय है। धन का अर्थ सिक्का तथा वस्तु मान लेना प्रमाद है। निर्धनों, शक्तिहीन को देखकर, उसकी सेवा करने की भावना उन्नति का मूल अवश्य है, किन्तु धनी अर्थात् शक्तिशाली कहलाने की इच्छा पतन का मूल है। प्राकृतिक विधान के अनुरूप वर्तमान का सच्चा दु:ख भविष्य में सत्ता अवश्य हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति सर्व-समर्थ प्रेम-पात्र की छाया में निवास करता है। अत: असह्य वेदना की पूर्ति अनिवार्य है। अन्तर केवल इतना है कि यदि सत् के लिये व्याकुलता है, तो उसकी पूर्ति बाह्य सहायता के बिना वर्तमान में ही हो जाती है और यदि भोगों अर्थात् असत् के लिए व्याकुलता है, तो उसकी पूर्ति कालान्तर में बाह्य संघ अर्थात् कर्म के द्वारा हो जाती है। अत: वर्तमान का दु:ख भविष्य में सत्ता बन जाता है।

सर्व-हितकारी सेवा के भाव से शक्ति का चिन्तन करना, अर्थात् शक्ति के लिए सर्वशक्तिमान से प्रार्थना करना, उन्नति का साधन है; किन्तु इन्द्रिय-जन्य भोग के लिए शक्ति का आह्वान करना पतन का मूल अवश्य है। प्राप्त शक्ति को सेवा में लगा दो और अप्राप्त शक्ति के लिए तीव्र व्याकुलता उत्पन्न करते रहो। संसार के काम आने का भाव सतत जागृत् रहना चाहिए। यह भली प्रकार समझ लो कि सच्चे सेवक में ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न भगवान् अवश्य निवास करते हैं, क्योंकि उनके बिना सेवा हो ही नहीं सकती। शक्ति द्वारा शक्तिमान् को प्राप्त करना साधन है। शक्तिमान् से विमुख हो, शक्ति का भोग करना विघ्न है।

भिन्न को अभिन्न मान लेने पर दो प्रकार के सम्बन्धों का आरम्भ हो जाता है, अर्थात् भेद-भाव तथा अभेद-भाव के सम्बन्धों की दृढ़ता हो जाती है। उसी दृढ़ता के अनुरूप अनेक वासनाओं की उत्पत्ति स्वत: होने लगती है। यह नियम है कि प्रत्येक वासना की पूर्ति का रस अनेक वासनाएँ उत्पन्न करता रहता है। बस, बेचारा प्राणी उन्हीं वासनाओं के जाल में फँसकर सुख-दु:ख की अग्नि में जलता रहता है। यद्यपि आनन्द की आवश्यकता विद्यमान है, किन्तु संयोग की दासता का रस उसे जागृत् होने नहीं देता। परन्तु जब विचारशील भिन्न को भिन्न जान लेता है, उसी काल में सभी स्वीकार किए हुए सम्बन्ध तुरन्त मिट जाते हैं। स्वीकृतिजन्य सम्बन्धों के मिटते ही आनन्दघन प्रेम-पात्र से स्वत: सम्बन्ध हो जाता है। यद्यपि प्राकृतिक विधान सभी स्वीकार किए हुए सम्बन्धों को निरन्तर परिवर्तित करता रहता है, किन्तु प्रमाद-वश प्राणी वियोग में भी संयोग मान करके प्रेम-पात्र से नित्य सम्बन्ध नहीं स्थापित करता, यही परम भूल है।

प्राकृतिक विधान अर्थात् प्रेम-पात्र की अहैतुकी कृपा प्राणी को वासना से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों में आबद्ध नहीं होने देती, अर्थात् प्रत्येक संयोग बिना ही प्रयत्न वियोग में विलीन होता रहता है, मानो प्रेम-पात्र से नित्य-योग करने के लिए त्याग तथा प्रेम का पाठ पढ़ाता है।

आनन्दघन भगवान् की अहैतुकी कृपा, न जानने का दोष मानव में नहीं रहने देती। इतना ही नहीं, प्रत्येक मानव में निज-ज्ञान के अनुरूप करने की शक्ति भी विद्यमान है, परन्तु मानव अपने पर अपनी कृपा नहीं करता; अर्थात् निज-ज्ञान का निरादर एवं प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग कर, उन्नति से निराश होने लगता है। यदि जो कर सकता है, उसको करने लगे, तो भगवान् की अहैतुकी कृपा आवश्यक शक्ति एवं योग्यता स्वत: प्रदान करती रहती है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। हम उन्नति से निराश तभी होते हैं, जब अपनी योग्यता के अनुरूप जीवन नहीं बनाते।

हम संसार से जो आशा करते हैं, वह संसार के साथ नहीं करते; हम जो प्रेम-पात्र से आशा करते हैं, वह स्वयं प्रेम-पात्र के साथ नहीं करते। प्रत्येक मानव संसार से काम लेना चाहता है, किन्तु स्वयं संसार के काम आने से अपने को बचाता है। प्रत्येक मानव आनन्दघन भगवान् को अपना बनाना चाहता है, किन्तु स्वयं उनका होने से डरता है। इन्हीं दो कारणों से जीवन में अनेक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं।

जब हम उनके हो जाते हैं, तब वे स्वयं हमारे हो जाते हैं। इतना ही नहीं, हम अनेक बार उनसे विमुख होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे हमें निरन्तर अपनाते हैं। उनकी कृपा का निरादर करना हमने जीवन बना लिया है।

यदि हम उनकी अहैतुकी कृपा का आदर करें, तो अनन्त काल के दोष उनकी कृपा से स्वत: वर्तमान में ही मिट जाते हैं। यद्यपि उनकी गुणमयी माया सभी प्राणियों को मोहित करती है, किन्तु उनकी कृपा प्रेम-पात्र को भी मोहित करती है। अत: उनका होकर उनकी कृपा की निरन्तर प्रतीक्षा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। जिस प्रकार प्यास लगने पर यदि जल नहीं मिलता, तो प्यास स्वत: बढ़ती जाती है, मिटती नहीं; उसी प्रकार उनका होते ही उनकी कृपा की प्रतीक्षा निरन्तर बढ़ती ही रहती है, मिटती नहीं।

(83)

प्रत्येक कर्ता के कर्तव्य-निष्ठा होने में केवल दो ही प्रतिबन्ध हैं—कर्तव्य के ज्ञान का निरादर एवं करने की शक्ति का दुरुपयोग। इन्हीं दो कारणों से साधक साधन में असफल होता है। कर्त्तव्य-निष्ठ होने के लिए न जानने का दोष एवं करने की शक्ति का अभाव कदापि नहीं है। क्योंकि जो कर नहीं सकते, उसके कराने की आशा प्राकृतिक विधान के अनुसार कभी नहीं हो सकती; जिस प्रकार आँख से सुनने और कान से देखने की कोई भी आशा नहीं करता। अर्थात् प्रत्येक कर्ता में कर्तव्य का ज्ञान एवं करने की शक्ति विद्यमान है। जिस प्रकार वस्त्र से रंग की भिन्नता होने पर भी अभिन्नता प्रतीत होती है, उसी प्रकार अपने बनाए हुए दोष से भिन्नता होने पर भी अभिन्नता प्रतीत होती है।

यदि अपनी दृष्टि से अपने दोषों को देखने का प्रयत्न किया जाय, तो दोष से भिन्नता का ज्ञान होता है। जिस ज्ञान से दोष का ज्ञान होता है, उसी ज्ञान से दोष को मिटाने की शक्ति उत्पन्न होती है। जब दोषी दोष को जान, दोष का त्याग कर, अपने में निर्दोषता की स्थापना करता है, तब अनन्त काल के दोष वर्तमान में ही मिट जाते हैं, क्योंकि निर्दोषता की स्थापना होने पर

दोष उत्पन्न होने के लिये स्थान शेष नहीं रहता। निर्दोष-तत्त्व केवल भगवत्-तत्त्व है, अथवा यों कहो कि भगवत्-तत्त्व ही निर्दोष है। अत: रुचि के अनुरूप भेद-भाव तथा अभेद—भावपूर्वक भगवान् से सम्बन्ध करते ही सभी दोष मिट जाते हैं।

सम्बन्ध भाव है, अभ्यास नहीं। भाव तथा त्याग वर्तमान में ही फल देते हैं। अभ्यास भविष्य में फल देता है। इसी कारण अनन्त काल का दोष त्याग करते ही मिट जाता है और अनन्त काल का वियोग सम्बन्ध स्वीकार करते ही नित्य हो जाता है। सम्बन्ध तथा त्याग करने में प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। प्राकृतिक विधान के अनुसार माने हुए सम्बन्ध के स्वरूप का वियोग होने पर भी प्राणी सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करता, जैसे विधवा स्त्री पति के मर जाने पर भी अपने को पति का ही मानती है; गृह से दूर होने पर भी मित्रता का सम्बन्ध प्रतीत होता है। इन सब दृष्टान्तों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि स्वीकार किया हुआ सम्बन्ध केवल स्वीकृति के आधार पर ही जीवित है।

अत: अपने बनाए हुए सम्बन्ध को त्यागकर प्राणी आनन्दघन भगवान् से नित्य-सम्बन्ध करने में सर्वदा स्वतन्त्र है, जिसके करते ही सभी दोष स्वत: मिट जाते हैं। भेद-भाव का सम्बन्ध स्थापित करते ही हृदय में व्याकुलता की अग्नि उत्पन्न होती है, जो सभी दोषों को भस्मीभूत कर डालती है। अभेद-भाव का सम्बन्ध करते ही निर्वासना आ जाती है, जो सभी गुणों को स्वत: उत्पन्न करती है। ऐसा कोई दोष नहीं है, जो व्याकुलता की अग्नि से दग्ध न हो जाय और ऐसा कोई गुण नहीं है, जो निर्वासना होने पर न आ जाय। व्याकुलता जागृत् करने के लिए एवं वासना-रहित होने के लिए संसार की सहायता की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक प्राणी निर्दोषता प्राप्त करने में सर्वदा स्वतन्त्र है।

(84)

जीवन की प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, घटना को भूल जाते हैं। शरीर विश्व की वस्तु है, अत: उसको विश्व की सेवा में ही लगाना है। विश्व शरीर की ही आशा करता है और शरीर विश्व की, क्योंकि इन दोनों में जातीय एकता है। 'मैं' के लिए अर्थात् अपने लिए विश्व में कोई स्थान नहीं है और 'मैं' को भी विश्व की आवश्यकता नहीं है। अत: अपने में आनन्दघन भगवान् की स्थापना पर, अपने को उनके पूजन की सामग्री बनाकर, उनके समर्पण कर, सदा के लिए

निश्चिन्त हो जाओ। ऐसा करने के लिए प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। परन्तु संसार के झंझटों से डरकर गृह-त्याग करना कुछ अर्थ नहीं रखता। संसार से सुख की आशा मत करो, यही संसार का त्याग है। यथा-शक्ति संसार की सेवा करते रहो, यही परम तप है। अपनी प्रसन्नता के लिए अपने प्रेम-पात्र से भिन्न किसी अन्य की ओर मत देखो, यही परम भक्ति है।

(85)

प्रत्येक उलझन उन्नति का साधन है, डरो मत। उलझन रहित जीवन बेक़ार है। संसार में उन्हीं प्राणियों की उन्नति हुई है, जिनके जीवन में पग-पग पर उलझन आई है। उलझन जागृति उत्पन्न करती है, प्रमाद को खा लेती है, छिपी हुई शक्ति को विकसित करती है। परन्तु जो प्राणी उससे डरता है, उसको अपना दास बना लेती है। प्यारे, अपने पर अपनी कृपा करना सीखो, किसी और के दोष मत देखो। यदि हो सके तो अपनी निर्बलताओं को देखो और उनके मिटाने का प्रयत्न करो, हार स्वीकार मत करो।

जब प्राणी अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, तब अनन्त-शक्ति (Universal-Energy) अपने आप रक्षा करती है। मानव-जीवन में अवनति के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अवनति प्राणी का बनाया हुआ खिलौना है, क्योंकि किसी और का दोष किसी और को तंग नहीं करता, अर्थात् अपने दोष का कारण किसी अन्य को मत समझो। दोष मिटाया जाता है, गुण स्वत: उत्पन्न होता है। यह भली प्रकार समझ लो कि हठपूर्वक की हुई निवृत्ति, प्रवृत्ति का मूल है और प्रेम-पात्र के नाते अभिनय के स्वरूप में की हुई प्रवृत्ति, 'निवृत्ति' का मूल है।

(86)

अपने दु:ख का कारण किसी और को मत समझो। बुराई का उत्तर अच्छाई से दो। जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, उनको पवित्रतापूर्वक पूरा कर डालो और नवीन संकल्प मत उत्पन्न होने दो। त्याग स्वत: उत्पन्न होने वाली वस्तु है। काम का अन्त होने पर राम अपने आप आ जाता है। जीवन की घटनाओं के अर्थ को अपना लो, घटनाओं को भूल जाओ। जो करो, ठीक करो, जहाँ रहो, ठीक रहो; भूतकाल भूल जाओ। दु:ख भूल जाओ, वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, अपने को सभी परिस्थितियों से असंग कर डालो। परिस्थिति परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति का सदुपयोग अधिक मूल्य की वस्तु है, क्योंकि परिस्थिति-परिवर्तन से त्याग का अभिमान आता है और

परिस्थिति के सदुपयोग से उससे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। त्याग का अभिमान राग का मूल है, जिसे सभी विचारशील जानते हैं।

प्यारे, दु:ख से डरो मत, प्रत्युत उसका सदुपयोग करो। यह भली प्रकार समझ लो कि जो प्राणी सद्भाव-पूर्वक एक बार भगवान् का हो जाता है, उसका पतन नहीं होता। अत: 'मैं भगवान् का हूँ',—यह महामंत्र जीवन में घटा लो। ऐसा करने पर सभी उलझनें अपने-आप सुलझ जाएँगी। भगवान् का हो जाने पर आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति अवश्य हो जाती है। ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

(87)

व्याकुलता तथा मोह-जनित वेदना में बड़ा अन्तर है। वेदना प्राणी का मूल्य घटाती है तथा लक्ष्य से निराश करती है, परन्तु व्याकुलता प्राणी का मूल्य बढ़ती है, एवं लक्ष्य की ओर तीव्र गति उत्पन्न करती है। किन्तु उस व्याकुलता की उत्पत्ति तब होती है, जब प्राणी जितना कर सकता है, कर डालता है, और लक्ष्य से निराश नहीं होता। ऐसी दशा में हृदय की जो दशा होती है, बस, वही व्याकुलता है। व्याकुलता उत्पन्न होते ही कर्तव्य का ज्ञान तथा उसके अनुरूप जीवन बनाने की शक्ति स्वत: आ जाती है। अत: अनशन के द्वारा उत्पन्न वेदना की अपेक्षा स्वाभाविक व्याकुलता कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि अनशन किया जाता है और व्याकुलता उत्पन्न होती है। करने से सीमित अहं जीवित रहता है और होने से सीमित अहं गलकर असीम निर्दोष-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

(88)

भाव का रस क्रिया के रस से कहीं मधुर है, किन्तु प्रेम-पात्र के बीच में हल्का-सा पर्दा अवश्य है। परदा प्रेमी के हृदय में प्रीति जागृत करने में समर्थ है। इस दृष्टि से भाव आदरणीय अवश्य है, क्योंकि वियोग से प्रीति की दृढ़ता होती है, न्यूनता नहीं। प्रीति की अग्नि ज्यों-ज्यों प्रज्वलित होती जाती है, त्यों-त्यों प्रेमी की सत्ता स्वत: प्रीति में परिवर्तित होती जाती है, अर्थात् प्रेमी प्रीति होकर प्रीतम से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाता है।

अपनत्व की दृढ़ता होने पर, जब प्रेमी को प्रेम-पात्र के प्रेम का आस्वादन नहीं मिलता, तब प्रेमी ऊपर से मान कर रूठकर खीझने लगता है, किन्तु भीतर से व्याकुलता की गति तीव्र होने लगती है; यही मान-लीला का रहस्य है।

(89)

प्रश्न—माया क्या है?

उत्तर—माया दो प्रकार की है—

1. गुणमयी माया, 2. योगमाया।

भोगेच्छा की पूर्ति के लिए गुणमयी-माया भोग के स्वरूप में उत्पन्न होती है, किन्तु भोग की क्षण-भंगुरता का ज्ञान कराकर स्वतः चली जाती है।

योग-माया नित्य-जीवन, नित्य-रस अर्थात् भगवान् की आवश्यकता जागृत् करती है। इतना ही नहीं, प्रत्युत गुणमयी माया को खाकर भगवान् से अभिन्न करती है।

गुणमयी माया प्राणी के जीवन में भोगासक्ति उत्पन्न करती है; योग-माया भक्त में भक्ति और जिज्ञासु में जिज्ञासा जागृत् करती है। गुणमयी-माया बुलाने पर आती है और अपने आप चली जाती है। योग-माया अपने-आप आती है और जब तक भक्त में भक्ति और जिज्ञासु में जिज्ञासा पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती, तब तक बनी रहती है। गुण-मयी माया योग-माया को ढक लेती है, मिटा नहीं पाती, किन्तु योग-माया गुणमयी-माया को अपने में विलीन कर, अपने पति से अर्थात् परमात्म-तत्त्व से अभिन्न कर देती है।

(90)

आज-कल प्राणी शुभ कर्म को सेवा मान लेते हैं, इसी कारण उसमें बँध जाते हैं। सच्ची सेवा वस्तुओं तथा इन्द्रियों द्वारा नहीं होती। यह बात सुनने में असम्भव-सी मालूम होती है, परन्तु परम सत्य है। जिस प्रकार 'प्रेम' प्रेम-पात्र का स्वभाव तथा प्रेमी की आवश्यकता है, उसी प्रकार 'सेवा' समर्थ का स्वभाव तथा असमर्थ की आवश्यकता है। सच्ची सेवा का अधिकार तब प्राप्त होता है, जब प्राणी को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। साधारण प्राणी मार्ग में चलते हुए पथिक के समान स्वयं पहुँचने के पूर्व, बिना ही पूछे, दूसरे को संकेत करते हैं। ऐसी दशा में वे स्वयं तो पहुँच ही नहीं पाते और दूसरे को भी विपरीत पथ पर डाल देते हैं। बिना पूछे मार्ग बताना कुछ अर्थ नहीं रखता। जब तक दोषी को स्वयं दोष न मालूम हो, तब तक उसे दोषी बताकर निर्दोषता का उपदेश बेकार होता है। ऐसा करने से अपने में सीमित अच्छाई और दूसरे में बुराई दीखने लगती है, जो पतन का कारण है।

यदि किसी का दोष देखकर हृदय में वेदना हो, तो व्याकुलतापूर्वक उसकी मूक सेवा करो। कहो कुछ मत, अर्थात् वह यह न समझ पाए कि मेरी सेवा कर रहे हैं और अपने में भी यह भाव न आए कि मैं सेवा कर रहा हूँ; बल्कि यह भाव रहे कि मैं अपने हृदय की वेदना मिटा रहा हूँ, अर्थात् सेवक होने की तैयारी कर रहा हूँ। ज्यों-ज्यों अपने दोष मिटते जाएँगे, त्यों-त्यों सेवा करने की शक्ति स्वत: आती जाएगी। दोषी का दोष अपना दोष मालूम हो और उसके दोष का उत्तरायित्व अपने पर प्रतीत हो, ऐसी दशा में सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होगी। उस व्याकुलता से सेवा करने की योग्यता आ जाएगी। शुभ कर्म कालान्तर में बन्धन का हेतु हो सकता है, किन्तु सेवा किसी भी काल में बन्धन का हेतु नहीं होती। कर्म, भिन्नता का भाव मानकर ही होता है, सेवा का जन्म एकता का भाव आने पर होता है। जो अपनी प्रसन्नता के लिए अपने प्रेम-पात्र से भिन्न की ओर नहीं देखता, उसी को सेवा करने का सौभाग्य मिलता है, क्योंकि सेवा प्राकृतिक विधान (Universal Law) है, कर्म बुद्धि-जन्य विधान है। इसलिए पवित्र-से-पवित्र कर्म में भी किसी-न-किसी प्रकार की न्यूनता रहती है।

यह आपने ठीक लिखा है कि बुराई कितनी ही छिपाकर की जाय, किन्तु फैलती है, अर्थात् समाज की हानि होती है। परन्तु बुराई करने वाला केवल शिक्षामात्र से बुराई का त्याग नहीं करता। यह भली प्रकार समझ लो कि न समझने का दोष शिक्षा से मिटता है, किन्तु न करने का दोष, जब कर्त्ता स्वयं अपने ऊपर कृपा करता है, तब मिटता है। सबसे बड़ा दोष क्या है? अपने ज्ञान का आदर न करना। जो प्राणी अपने ज्ञान का आदर नहीं करता, वह उपदेशक के ज्ञान का आदर कर ही नहीं सकता। अत: बिना पूछे समझाने का प्रयत्न न करो। उसके दु:ख से दु:खी होकर मूक सेवा करो। पवित्र-भाव स्वत: कार्य करते हैं, किन्तु ऐसे सेवक को संसार नहीं जान पाता। बाह्य सेवा में बनावट अधिक होती है, इसलिए विचारशील को उससे बचना चाहिए।

(91)

कल्याण की आवश्यकता कल्याण का सच्चा मार्ग है। सद्गुरु-कृपा कल्पवृक्ष है। ऐसी अवस्था में भी कल्याण की चिन्ता करना प्रमाद के अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं रखता। प्यारे, भोले-भाले किसान की भाँति सद्गुरु के दिये हुए बीज स्वरूप परम सत्य को अपने में बोकर विकल्परहित हो जाओ। यथाशक्ति सत्संग के जल से उसे सींचते रहो। अनन्त-काल के दोष सत्य को अपनाते ही स्वत: मिट जाते हैं। भूतकाल भूल जाओ। वर्तमान

परिस्थिति का सदुपयोग कर, असंग हो जाओ। अपने में ही अपने प्रेम-पात्र की स्थापना कर, अचिन्त ओ जाओ। ज्यों-ज्यों अचिन्तता बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों छिपी शक्तियों का विकास अपने-आप होता जाएगा। अचिन्त होने के लिए किसी प्रकार के बनाए हुए संगठन की आवश्यकता नहीं है।

जो कर सकते हो, कर डालो। जो नहीं कर सकते हो, उसके लिए चिन्ता मत करो। अपनी दृष्टि से देखे हुए दोष को त्याग, अपने में निर्दोषता स्थापित कर, निश्चिन्त हो जाओ। ऐसा करने से पुन: दोष उत्पन्न न होगा, क्योंकि जो स्वीकृति अहंभाव (Limited Personality) में से निकल जाती है, उसकी सत्ता मिट जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि भक्त होने पर 'भक्ति' और पवित्र होने पर 'पवित्रता' स्वत: आ जाती है, क्योंकि अहंभाव के विपरीत चेष्टा नहीं होती, प्रत्युत जो सद्भावना अहंभाव से मिल जाती है, उसमें सत्यता तथा प्रियता आ जाती है।

(92)

जिस प्रकार काष्ठ अग्नि होकर अपने कारण में विलीन होता है, उसी प्रकार भक्त 'भक्ति' होकर, सेवक 'सेवा' होकर, प्रेमी 'प्रीति' होकर, जिज्ञासु 'जिज्ञासा' होकर अपने-अपने लक्ष्य में विलीन होते हैं।

संसार की ओर जाने के लिए अहंभाव शरीर व इन्द्रियों में परिवर्तित होकर क्रिया करता है, अन्त में शक्तिहीन हो, विश्व हो जाता है, किन्तु प्रेम-पात्र की ओर जाने के लिए मन, इन्द्रियादि अहंभाव अर्थात् मैं में विलीन होते हैं और अहंभाव प्रीति होकर प्रीतम का रसपान कर, कृतकृत्य हो जाता है। बस, यही सच्ची आस्तिकता है।

(93)

सत्य के अभिलाषी का किसी भी प्रकार पतन नहीं होता, उत्थान ही होता है; क्योंकि सत्य की अभिलाषा उदय होते ही अनन्त-काल की भोगेच्छाओं को खा लेती है। भोगवादी जिस पद को अनुष्ठानों से नहीं पाता, सत्य का जिज्ञासु उस पद को केवल जिज्ञासामात्र से पाता है; क्योंकि त्याग वर्तमान में फल देता है।

शरीर, इन्द्रियादि हितकारी चेष्टाओं में लगे रहें, हृदय प्रेम-पात्र की प्रीति से छका रहे, विवेक-पूर्वक बुद्धि सम हो जाए, अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव हो। जिन साधनों से ऐसा जीवन हो जाए, वे ही वास्तविक साधन हैं।

वियोग का भय और संयोग की आसक्ति मिट जाने पर प्राकृतिक विधान के अनुरूप परिवर्तनशील जीवन की प्रगति स्वत: हो जाती है। स्वार्थ-भाव का नितान्त अन्त होने पर एवं सेवा भाव जागृत् होने पर शरीर, इन्द्रियादि से हितकारी चेष्टाएं स्वत: होने लगती हैं।

सद्‌भावपूर्वक प्रेम-पात्र से अपनत्व एवं आत्म-समर्पण-भाव दृढ़ होने से हृदय प्रेम-पात्र की प्रीति से छक जाता है। वर्तमान जीवन में जीवन-बुद्धि न रहने से एवं वर्तमान जीवन को मृत्यु जान लेने पर, बुद्धि विवेकपूर्वक सम हो जाती है।

अपने में से सभी स्वीकृतियाँ निकल जाने से एवं स्वाभाविक निर्वासना आ जाने से अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव होता है। आवश्यकता का ज्ञान एवं प्राप्त योग्यता का सदुपयोग करने पर अचिन्तता तथा व्याकुलता स्वत: उत्पन्न होती है। पूर्ण अचिन्तता एवं पूर्ण व्याकुलता होने पर सफलता पैर पलोटती है। अत: मानव-जीवन में निराश होने के लिए कोई स्थान नहीं है।

(94)

दु:ख से प्राणी का विकास होता है, ह्रास नहीं। सुख से तथा सुख की दासता से प्राणी का ह्रास होता है, विकास नहीं। उन्नतिशील प्राणी सुख का भोग नहीं करते, प्रत्युत दु:खियों को बाँटते हैं। जिसकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर है, जिसका चित्त बिना आधार के शान्त है एवं जिसके प्राण बिना निरोध के सम हैं, उसी का गृह-त्याग का अधिकार है। त्याग सभी निर्बलताओं को खा लेता है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। किसी भी सांसारिक वस्तु को अपना न समझना वास्तविक त्याग है। अपने में से सभी स्वीकृतियों को निकाल देना आन्तरिक संन्यास है। स्वीकृतियों के निकल जाने से निर्वासना स्वत: आ जाती है। निर्वासना आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वत: उत्पन्न होते हैं।

सच्चा त्याग किया नहीं जाता, हो जाता है। आगे-पीछे का चिन्तन न करो, अपने में ही अपने प्रेमपात्र को अनुभव करने का प्रयत्न करो। शरीर से अभिनय के स्वरूप में धर्मानुसार संसार की सेवा करते रहो। कर्तव्यनिष्ठ होने पर अधिकार स्वत: प्राप्त होता है। विचारशील प्राणी सतत प्रयत्नशील रहते हैं। मानव-जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। सभी निर्बलताओं की निवृत्ति मानव-जीवन की माँग है। प्रत्येक निर्बलता का ज्ञान अनन्त बल को सिद्ध करता है, जिस प्रकार निर्धनता धन को।

(95)

संयोग का रस वियोग का भय उत्पन्न करता है। इसी कारण विचारशील संयोग काल में ही सद्भावपूर्वक वियोग देखने का प्रयत्न करते हैं। गहराई से देखिए, स्वरूप से प्रत्येक वस्तु भिन्न है, अथवा अभिन्न है? भिन्न को भिन्न समझने पर भी संयोग सिद्ध नहीं होगा और अभिन्न को अभिन्न जानने पर भी संयोग सिद्ध नहीं होता। अत: भिन्न से सम्बन्ध-जन्य एकता होने पर तथा अभिन्न में प्रमाद-जन्य भिन्नता होने पर संयोग का भाव सिद्ध होता है। भिन्न को भिन्न और अभिन्न को अभिन्न अनुभव करने पर संयोग में ही वियोग सिद्ध होता है। संयोग में वियोग देखने से निर्वासना स्वत: आ जाती है। निर्वासना आते ही निर्वैरता, मुदिता, समता, निर्भयता आदि गुण स्वत: उत्पन्न हो, विकसित होने लगते हैं। हृदय में केवल प्रीति की गंगा लहराती है। त्याग का बल सभी निर्बलताओं को खा लेता है। अपने में ही अपने प्रीतम को पाकर प्राणी कृतकृत्य हो जाता है।

(96)

सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार उस प्राणी को है, जो यथोचित पालन-पोषण कर सके, अर्थात् उसको योग्य बना सके। पशुओं की भाँति अनेक बच्चे उत्पन्न करना धर्म विरुद्ध है। मन में छिपी हुई वासनाओं की प्रवृत्ति द्वारा जानकारीपूर्वक निवृत्ति के लिए प्राणी गृहस्थभाव को स्वीकार करता है, अर्थात् विवाह करता है। जब मन में संसार के सुखों की वासना न रहे, तब शक्ति होते हुए भी विचारशील को सन्तान उत्पन्न नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति, निवृत्ति के लिए स्वीकार की जाती है, प्रवृत्ति के लिए नहीं। क्योंकि प्रत्येक संयोग का वियोग परम आवश्यक है। प्यारे, शक्तिहीन प्राणियों को तो गृहस्थ होने का अधिकार ही नहीं है, क्योंकि संसार में उन्हीं प्राणियों को स्थान मिलता है, जो सुखी होते हैं, अर्थात् संसार के काम आ सकते हैं।

दु:खियों के लिए दु:खहारी हरि के अतिरिक्त और कोई स्थान नहीं रहता। विचारशील संसार से सुख की आशा नहीं करते, अपने सुख के लिए किसी को दु:ख नहीं देते, मिले हुए सुख का अभिमान नहीं करते, प्रत्युत उसको दु:खियों की सेवा में लगा देते हैं। वे दु:ख आने पर संसार के दीन नहीं होते बल्कि आने वाली कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं। जो दु:खी त्याग नहीं करता और जो सुखी सेवा नहीं करता, उसकी उन्नति नहीं

होती। किसी भी वस्तु को अपना न समझो। हृदय में प्राणिमात्र के हित का भाव हो। बुराई का उत्तर अच्छाई से दो। यदि निर्बलता के कारण न दे सको, तो केवल अपनी रक्षा कर लो, किन्तु बुराई का उत्तर बुराई से न दो। सेवा का भाव सतत जागृत् रहे। त्याग का बल सभी निर्बलताओं को खा लेता है। त्याग करने में प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है। बुरे-से-बुरे प्राणी से भी घृणा मत करो। राग-द्वेष मिटाकर हृदय को पवित्र कर डालो।

पवित्र हृदय में आनन्दघन भगवान् निरन्तर निवास करते हैं। प्रीति की गंगा सभी पाप हर लेती है। निर्वैरता का भाव निर्भयता प्रदान करता है। पूज्य गुरुजनों का सम्मान तथा बालकों को प्यार करने का प्रयत्न करते रहो। अपनी प्रसन्नता के लिए संसार की आशा न करो। थोड़ी-थोड़ी देर में व्याकुलतापर्वूक दु:खहारी हरि को पुकारो, अपने में अपने प्रीतम की स्थापना कर, अपना सब कुछ उनके समर्पण कर डालो। ऐसा करने से शरीरादि सभी वस्तुएँ प्रेम-पात्र के पूजन की सामग्री बन जाएँगी। एक क्षण भी बेकार न रहो, संसार की सेवा तथा भगवच्चिन्तन करते रहो।

(97)

जब प्राणी उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर देता है, जो दूसरों के हित तथा प्रसन्नता का साधन नहीं हैं, तब उसकी सभी निर्बलताएँ मिटने लगती हैं और छिपी हुई शक्तियों का विकास स्वत: होने लगता है।

अत: विचारशील को दूसरों का अहित करने वाली चेष्टाओं का निरोध करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए; यही वास्तव में तप है। जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का हित होता है, उन्हीं प्रवृत्तियों से अपना हित होता है। पराए काम आने वाले प्राणियों को अपने काम के लिए किसी नवीन साधन की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि तत्त्व-दृष्टि से अभिन्नता है। भिन्नता केवल स्वार्थ-भाव अर्थात् भोग-बुद्धि से उत्पन्न हुई है। सर्वहितकारी-भाव जागृत होते ही भोग-बुद्धि का अन्त हो जाता है।

भोग-बुद्धि का अन्त होते ही योग बिना ही प्रयत्न हो जाता है। भोग और योग के बीच में केवल स्वार्थ का ही पर्दा है। जब सेवा-भाव स्वार्थ-भाव को खा लेता है, बस, उसी काल में भोगी स्वयं योगी हो जाता है।

(98)

जिस प्रकार शुद्ध किया हुआ संखिया बड़े-बड़े भयंकर रोगों के निवारण में समर्थ है, उसी प्रकार प्राकृतिक विधान के अनुरूप अर्थात् हिन्दू-संस्कृति से

संशोधित परिवर्तनशील मानव-जीवन नित्य-जीवन का साधन बन जाता है। संस्कृतिजन्य सभी संस्कार असत्य से सत्य की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर और निर्बलता से बल की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। इसी कारण हिन्दू-संस्कृति में एक जीवन में अनेक जीवन का अनुभव होता है। यज्ञोपवीत संस्कार होते ही शरीर-भाव 'मनुष्य भाव' में परिवर्तित हो जाता है। जन्म के अनुरूप शरीर-जन्य स्वभाव का जीवित रहना वास्तव में मानवता नहीं है, प्रत्युत पशुता है। इसी दृष्टि से उपनयन संस्कार होने पर 'गायत्री' माता तथा 'आचार्य' पिता हो जाता है और ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण, इन तीनों ऋणों से उऋण होने का उत्तरदायित्व आ जाता है।

विकास के लिए जन्म, संस्कार तथा कर्म, तीनों ही आवश्यक होते हैं। जन्म केवल छिपी हुई शक्ति है, संस्कार उस छिपी हुई शक्ति को जाग्रत् करता है, कर्म संस्कार के अनुरूप फल देता है। अत: जिस वर्ण में जन्म हो, उसके अनुरूप संस्कार तथा संस्कार के अनुरूप कर्म करना उन्नति के लिए परम अनिवार्य हो जाता है। जिस प्रकार बीज के परिवर्तन से फल आदि का परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार संस्कृति-जन्य संस्कारों के द्वारा अहंभाव के परिवर्तन से प्रवृत्ति-परिवर्तन हो जाता है। यह सभी जानते हैं कि प्रवृत्ति के अनुरूप कर्ता एवं कर्ता के अनुरूप प्रवृत्ति स्वत: होती है। इसी भाव को लेकर तात्त्विक ज्ञान से प्रकाश पाकर ऋषि जीवन में परिणत प्राणियों ने संस्कारों की महत्ता स्थापित की है।

देखो, उन्नति के लिए केवल दो मार्ग हैं—विश्वास तथा विचार। विकल्परहित विश्वास और अनुभूति-जन्य विचार परम आदरणीय हैं। विचार-मार्ग का वही अधिकारी है, जो अपने से भिन्न की ओर नहीं देखता, जिसने अपनी उन्नति को केवल अपने आधार पर ही निर्भर किया है, अर्थात् जिसका जीवन निज-ज्ञान के अनुरूप है। यह भली प्रकार समझ लो कि ज्ञान ईश्वरीय (Divine) है, किसी व्यक्ति की वस्तु नहीं। जो प्राणी ईश्वरीय ज्ञान को अपनी योग्यता से नहीं अपना सकता, उसके लिए विश्वास-मार्ग ऋषियों ने स्थापित किया है।

देखो, जिस प्रकार प्राइमरी स्कूल में पढ़ने वाला छात्र अध्यापक के विश्वास के आधार पर बड़ी-बड़ी संख्याओं का गुणा कर लेता है, बिना इस बात के जाने कि एक-एक इकाई हटाकर गुणनफल क्यों रखा जाता है; किन्तु उसके अनुसार करने पर उत्तर ठीक निकलता है, उसी प्रकार आचार्य पर विश्वास रखकर उसके अनुरूप जीवन हो जाने पर, जो फल तत्त्वज्ञ को होता है, वही विकल्परहित विश्वासी को मिलता है। अत: उपनयन संस्कार होने पर 'गायत्री' माता एवं 'आचार्य' पिता की आज्ञानुसार जीवन बनाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होकर घोर प्रयत्न करना चाहिए।

जिस प्रकार लिपि अर्थ को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक चिह्न मूक-भाषा में स्वधर्म-निष्ठ होने के लिए प्रेरित करता है। अत: धार्मिक चिह्नों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिए, तिरस्कार-दृष्टि से नहीं। जब तक प्राणी में स्थूल शरीर का अभिमान रहता है, तब तक प्रत्येक विशेष प्रवृत्ति के लिए प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसी प्रकार का बाह्य चिह्न धारण करता ही है। फिर हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा विभु परिवर्तन करने वाले चिह्नों को क्यों न धारण करें? सीमाबद्ध जीवन न रहने पर सभी चिह्न बिना प्रयत्न ही मिट जाते हैं, जिस प्रकार विद्यालय से उत्तीर्ण होने पर विद्यालय के सभी शासन बिना ही प्रयत्न छूट जाते हैं। किन्तु परिवर्तनशील जीवन में आबद्ध प्राणी यदि संस्कृति-जन्य चिह्नों का तिरस्कार करता है, तो उसकी वही दशा होती है, जो विद्यालय में बिना प्रविष्ट हुए व्यक्ति की होती है। बाह्य-दृष्टि से उन दोनों पर ही विद्यालय का शासन नहीं है, किन्तु आन्तरिक दृष्टि से बड़ा ही भेद है। एक का तो विद्यालय से अभेद हो चुका है और दूसरे का विद्यालय से विच्छेद।

अत: जब तक परिवर्तनशील-जीवन नित्य-जीवन से अभिन्न न हो जाए, तक तक वर्णाश्रम के अनुसार संस्कार तथा चिह्न को धारण करना परम अनिवार्य है। यह भली प्रकार समझ लो कि मिली हुई जन्म-सिद्ध शक्ति के अनुसार यदि संस्कार न किया और संस्कार के अनुरूप कर्म न किया, तो वही दशा होगी, जो प्राप्त पूँजी के लुट जाने पर धनी की होती है। अत: प्रत्येक उन्नतिशील मानव को प्राकृतिक विधान अर्थात् हिन्दू-संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रम धर्म तथा धार्मिक सभी संस्कारों को विधिवत् धारण करने का अथक प्रयत्न करना चाहिए।

(99)

जो क्रिया-शक्ति भोग में व्यय नहीं होती, वही सेवा में व्यय होती है, जो प्रीति किसी वस्तु में आबद्ध नहीं होती, वही प्रेम-पात्र सर्व-समर्थ भगवान् तक पहुँचती है। जो ज्ञान पदार्थों के उपार्जन में व्यय नहीं होता, वही परम-तत्त्व से अभिन्न होता है।

(100)

संसार से न्याय तथा प्रेम की आशा मत करो, परन्तु अपनी ओर से न्याय तथा प्रेम-युक्त व्यवहार करते रहो। विचारशील अपने को बदलने का

प्रयत्न करते हैं और साधारथ प्राणी दूसरों को बदलने का। जो प्राणी अपने मन को ठीक कर साकता है, उसी के जीवन से संसार का हित हो सकता है। अतः अपने मन को पवित्र करने का प्रयत्न करते रहो। मन के पवित्र हो जाने पर संसार की अनुकूलता की आशा तथा प्रतिकूलता का भय मिट जाता है। विचारशील अपने दुःख का कारण किसी अन्य को नहीं मानते। शरीर तथा मन के हित का ध्यान रखो, किन्तु शरीर तथा मन की दासता का त्याग करो। जो प्राणी शरीर तथा मन का दास नहीं रहता, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक संसार की दासता से छूट जाता है। शरीर तथा मन का दास कितना ही सबल क्यों न हो, उसे विवश होकर संसार की दासता उठानी पड़ती है और उसके हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि सदा जलती रहती है। पवित्र मन में प्रेम-पात्र अपने आप आ जाते हैं। अतः यदि प्रेम-पात्र को बुलाना है, तो शीघ्रातिशीघ्र मन को पवित्र कर डालो। मन के पवित्र करने में प्रत्येक प्राणी सर्वथा स्वतन्त्र है, क्योंकि उसके लिए किसी अन्य की सहायता को आवश्यकता नहीं होती।

संयोग की आशा न करने से, अर्थात् जिसका वियोग अनिवार्य है, उसकी वासना का त्याग करने से और संयोग काल में ही वियोग देखने से निर्वासना आ जाती है। ज्यों-ज्यों निर्वासना स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों हृदय में निर्वैरता, निर्भयता, निःसंकल्पता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण उत्पन्न होने लगते हैं। जो प्राणी अपने मन से वस्तुओं का चिन्तन-ध्यान निकाल देता है, उसके मन में पवित्र प्रीति की गंगा स्वतः लहराने लगती है। जो प्राणी मन को किसी वस्तु तथा पुस्तक आदि के आधार पर बहलाता रहता है, उसके हृदय में प्रेम-पात्र के लिए सच्ची व्याकुलता जागृत् नहीं होती।

अतः जहाँ तक हो सके मन को किसी बाहरी आधार में बँधने मत दो। उससे कह दो, 'प्यारे मन, तुमको चिन्तन करना है, तो प्रेम-पात्र का करो, अथवा स्थिर हो जाओ।' मिटने वाली वस्तुओं के सहारे, क्या तुमको स्थाई प्रसन्नता मिल साकती है? कदापि नहीं। मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग करो, किन्तु अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन मत करो। मिली हुई वस्तुओं का दुरुपयोग करने से वस्तुओं का तिरस्कार होगा, जो उचित नहीं है। अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन से वस्तुओं की दासता उत्पन्न होगी, जो परतन्त्रता का मूल है। इसी कारण विचारशील न तो प्राप्त वस्तुओं का दुरुपयोग करते हैं और न अप्राप्त वस्तुओं की इच्छा।

त्याग तथा सम्बन्ध धीरे-धीरे नहीं होते, क्योंकि कर्ता के अधीन हैं। धीरे-धीरे वही बातें की जाती हैं, जो संसार की सहायता के बिना नहीं हो सकतीं। सम्बन्ध तथा त्याग के लिए संसार की सहायता की आवश्यकता नहीं

है। सम्बन्ध से 'प्रीति' और त्याग से 'आनन्द' अवश्य मिल जाता है, परन्तु जब प्राणी शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध कर लेता है, तब प्रीति मिटकर मोह बन जाती है, जो हृदय में भयंकर वेदना उत्पन्न करती है। इसी कारण विचारशील शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं। वस्तुओं का त्याग प्रेम-पात्र से अभिन्नता तथा प्रेम-पात्र का त्याग वस्तुओं की दासता उत्पन्न करता है। विचारशील वस्तुओं को त्याग, प्रेम-पात्र के प्रेम को पाकर अभय हो जाते हैं।

(101)

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन, नित्य-जीवन का साधन है, जीवन नहीं। गहराई से देखिए, प्रत्येक प्राणी के हृदय में वर्तमान अवस्था के परिवर्तन की रुचि अवश्य होती है। परिवर्तन की रुचि वर्तमान जीवन को 'जीवन' स्वीकार नहीं करने देती। यह नियम है कि जब हम साधन को ही साध्य मान लेते हैं, तब साध्य से विमुखता और साधन में आसक्ति अपने-आप हो जाती है। साधन की आसक्ति साधन में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करती है, जो वास्तव में प्रमाद है। अत: वर्तमान जीवन को नित्य-जीवन का साधन मानना चाहिए, जीवन नहीं।

आवश्यकता का प्रमाद अनेक प्रकार की इच्छाओं का स्वरूप धारण करता है। आवश्यकता जागृत् होने पर जब सभी इच्छाएँ उसमें विलीन हो जाती हैं, तब आवश्यकता पूर्ति की योग्यता अपने-आप आ जाती है। नित्य-जीवन से देश-काल की दूरी कदापि नहीं हो सकती। प्यारे, जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसके लिए भविष्य की आशा के आधार पर चैन से रहना, कहाँ तक न्यायपूर्ण है? जब हम सद्भावपूर्वक अपनी अहंता तथा सभी मन, बुद्धि यन्त्रों को नित्य अनन्त-शक्ति (Universal Energy) के समर्पित कर देते हैं, तब 'वे' अवश्य अपना लेते हैं।

इस अभागे सीमित अहंभाव ने हमसे हमारे प्रेम-पात्र की दूरी उत्पन्न कर दी है। अत: सीमित अहंभाव की सत्ता अस्वीकार करना हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। साधारण प्राणी प्रवृत्ति को सत्ता मान लेते हैं। यदि प्रवृत्ति सत्ता होती, तो उसकी स्वाभाविक निवृत्ति कदापि नहीं होती। स्वाभाविक निवृत्ति, प्रवृत्ति को केवल अवस्था स्वीकार करती है। अवस्था का जीवन केवल राग के आधार पर जीवित है। अत: राग-निवृत्ति के लिए मानी हुई स्वीकृति का त्याग होते ही हम प्रेम-पात्र से विभक्त नहीं रहते, अर्थात् भक्त हो जाते हैं।

भक्त होते ही भक्ति अर्थात् निर्वासना अपने आप आ जाती है, क्योंकि 'भक्ति' भक्त का स्वभाव है। भक्त होने पर भक्ति आएगी, क्योंकि अहंता के अनुरूप प्रवृत्ति होती है। भक्ति किसी प्रवृत्ति का नाम नहीं है। सच तो यह है कि भक्ति भगवान् का स्वभाव है, इसी से वह भक्तों को उनकी कृपा से ही प्राप्त होती है। सीमित स्वीकृतियों का त्याग होते ही पतित-से-पतित भी कृपा-पात्र हो जाता है। प्रेम-पात्र कृपा करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतः हमको शीघ्रातिशीघ्र मानी हुई स्वीकृतियों से असंग हो जाना चाहिए।

पत्र-पुष्प

1

चम्बल तट

मेरे निजस्वरूप, 24-1-43

प्राकृतिक-विधान (Universal Law) के अनुसार मानव-जीवन को चार भागों में विभाजित करना परम अनिवार्य है—

1. गुणों का विकास।
2. सीमित काल के लिए संस्कृति के अनुरूप सीमित उपभोग।
3. सार्वजनिक सेवा, संयम एवं तत्त्व-चिन्तन।
4. त्याग-पूर्वक नित्य-जीवन तथा पूर्ण निर्भयता प्राप्त करना।

उनमें-से जीवन का प्रथम भाग जो सद्‌गुणों के संचय करने के लिए था, उसको आपने बड़ी वीरता गम्भीरतापूर्वक यथासाध्य पूरा करने का प्रयत्न किया। धार्मिक संस्कृति के अनुसार मन में छिपी हुई अर्थ तथा काम की वासनाओं का यथार्थ ज्ञान करने के लिए तथा उससे असंग हो, सार्वजनिक सेवा की तैयारी के लिए गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होना चाहिए। अब आपका वह समय उपस्थित है। पति-पत्नी भाव सभी भावों से विशेष अभिन्नता एवं एकता प्रकाशित करता है, अर्थात् पत्नी पति की और पति पत्नी की पूर्ति का साधन होता है।

जिस प्रकार धान, छिलके समेत चावल रहने पर, वृद्धि पाता है, उसी प्रकार पति-पत्नी अभिन्न होने पर ही विकास पाते हैं, परन्तु उपभोग में जीवन-बुद्धि स्थापित करना वास्तविक विकास का ह्रास करना है। जिस प्रकार भयंकर रोग की निवृत्ति के लिए कुछ काल कटु औषधि प्रियतापूर्वक सेवन की जाती है, उसी प्रकार संयोग-जन्य रस की आसक्ति रूपी राग की निवृत्ति के लिए पति-पत्नी भाव-रूपी औषधि सेवन की जाती है।

विचारशील दम्पत्ति जिस प्रसन्नता, पवित्रता एवं सच्चाई से संयोग स्वीकार करते हैं, उसी पवित्रता के साथ वियोग स्वीकार कर, अपनी-अपनी निर्बलताओं का अन्त करते हैं।

भारतीय पाणिग्रहण-संस्कार की प्रथा में कंगन की गाँठ खोलने की प्रथा प्रायः प्रचलित है। वर-वधू में से जो प्रथम गाँठ खोल लेता है, उसकी विजय मानी जाती है, किन्तु इस बात का ध्यान रखा जाता है कि गाँठ खुल जाय,

टूटे नहीं। टूट न जाने का वास्तविक अर्थ यही है कि जिस छिपे राग को मिटाने के लिए दम्पत्ति-भाव स्वीकार किया था, उसकी सिद्धि प्राप्त हो जाए; पति-पत्नी दोनों ही जीवन के तीसरे भाग में प्रविष्ट हो जाएँ।

देखो, जीवन का प्रथम भाग और तीसरा भाग उपार्जन के लिए है और दूसरा भाग धर्मानुसार उपभोग के लिए है। यह भली प्रकार समझ लो कि जो प्रवृत्ति धर्मानुसार की जाती है, उसमें भाव का मूल्य होता है, क्रिया का नहीं। भाव को मिटाकर केवल क्रिया को स्थान देना पशुता है। जीवन का चौथा भाग वियोग का भाव मिटाकर नित्य-जीवन (Eternal Life) प्राप्त करने के लिए है।

परस्पर प्रीति को दृढ़ बनाने के लिए उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर डालो, जो दूसरों की पूर्ति का साधन न हों। अपनी पूर्ति के लिए अपने से भिन्न की खोज मत करो। जो प्रवृत्ति किसी की पूर्ति का साधन न हो, उसका निरोध करना परम तप है। हृदय में यह भाव सतत् जागृत् रहे कि मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हितार्थ हो।

शक्तियों के विकास के लिए सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन लीलामय भगवान् से सद्‌भावपूर्वक हृदय से प्रार्थना करते रहो कि, 'हे प्रभो, यह शरीर विश्व के काम आ जाय और मैं तेरे काम आ जाऊँ, परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के स्वरूप में पूरी होकर तेरी स्थाई प्रीति में विलीन हो जाय।'

जब प्राणी अपनी सीमित शक्तियों का सदुपयोग कर लेता है और अप्राप्त शक्ति के लिए व्यथित हृदय से पुकारता है, तो सफलता अवश्य होती है, ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

देखो, पति-पत्नी-भाव प्रीति का पाठ पढ़ाने के लिए सर्वोत्कृष्ट भाव है, क्योंकि दाम्पत्य-भाव में भिन्नता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। वैसे तो एक और एक मिलकर दो होते हैं, किन्तु प्रीति वह गणना है कि जिसमें एक और एक मिलकर एक होता है। अत: आप लोग शरीर दृष्टि से भले ही दो प्रतीत हों, किन्तु भाव-दृष्टि से अभिन्न हो। भाव का जगत् क्रिया के जगत् से कहीं अधिक मधुर और विभु है।

आपको उपहार स्वरूप श्रीरामायण इसलिए दी जाती है कि आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति धर्मानुसार सरस तथा मधुर हो। लीलामय भगवान् आप लोगों को स्वधर्म-निष्ठ होने के लिए सद्‌बुद्धि प्रदान करें।

धर्म प्राकृतिक विधान है, जिसके अनुरूप जीवन होने पर प्राणी के सभी बन्धन स्वत: मिट जाते हैं, अर्थात् परतन्त्रता शेष नहीं रहती। प्राकृतिक विधान

किसी भी सीमित अवस्था में आबद्ध रहने के लिए आज्ञा नहीं देता और न किसी से भिन्नता का भाव करने के लिए आज्ञा देता है, अर्थात् भिन्नता तथा आसक्ति को मिटाकर केवल त्याग तथा प्रेम का पाठ पढ़ाता है।

जिस प्रवृत्ति में त्याग तथा प्रेम भरपूर है, वही वास्तव में धर्म है। जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मीठापन चीनी का है, उसी प्रकार सभी प्रवृत्तियों में सौन्दर्य धर्म का है। धर्म-रहित प्रवृत्ति बन्धन का हेतु होती है। उसी धर्म का पाठ पढ़ाने के लिए ऋषि-जीवन के पुरुषों ने मानव-जीवन को चार भागों में विभाजित किया है—

1. गुणों का विकास।
2. सीमित काल के लिए सीमित उपभोग।
3. संयम, सेवा एवं तत्त्व-चिन्तन।
4. सभी स्वीकृतियों के त्याग से निर्वासना प्राप्त करना।

यह बुद्धि-जन्य विधान प्राकृतिक विधान का प्रकाश है, अर्थात् मनुष्य मात्र के लिए आज्ञा है। परन्तु जिस काल में प्राणी की संयोग-जन्य रस की आसक्ति निवृत्त हो जाए, उसी काल में सर्व-त्याग कर सकता है, अर्थात् अपने में-से सभी स्वीकृतियों को निकाल सकता है; क्योंकि संस्कृति-जन्य स्वीकृतियों का शासन विषयी प्राणियों पर होता है।

विषय-वासना निवृत्त होने पर दृष्टि बिना दृश्य के, चित्त बिना आधार के और प्राण बिना निरोध के सम हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में स्वीकृतियों का शासन शेष नहीं रहता। परन्तु जो प्राणी व्यावहारिक प्रतिकूलताओं के कारण अपने को दु:ख से बचाने के लिए संस्कृति-जन्य स्वीकृतियों को त्याग, संसार का दास बनकर जीवित रहता है, उसको स्वीकृति का शासन अवश्य स्वीकार करना चाहिए। सभी बन्धन प्राणी में उपस्थित हैं, परिस्थिति में नहीं। प्रतिकूल परिस्थिति का भय नास्तिक अर्थात् धर्म-रहित प्राणियों को होता है।

धर्मात्मा प्रतिकूल परिस्थिति से डरता नहीं, प्रत्युत उसका सदुपयोग करता है। धर्मात्मा के जीवन में दीनता, अभिमान, भय एवं चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। धर्म प्राणी के छिपे हुए बन्धनों को प्रकाशित कर, निकालने का प्रयत्न करता है, किसी नवीन बन्धन को उत्पन्न नहीं करता। 'धर्म' थोड़ा लेकर बहुत देना सिखाता है। जिसमें ऐसा बल नहीं है, उसमें धर्म नहीं रहता। धर्म दो निर्बलताओं का संयोग कर, निर्बलताओं को मिटा, त्याग का पाठ पढ़ाता है, किसी को दास नहीं बनाता।

जब प्राणी उसकी ओर देखता है, जिसको उसकी आवश्यकता है, तब धर्म का जन्म होता है। धर्म की पूर्णता तब सिद्ध होती है, जब अपनी प्रसन्नता के लिए संसार की ओर नहीं देखता, प्रत्युत संसार की प्रसन्नता का साधन बन, अपने ही में अपने प्रीतम को पाकर, नित्य-जीवन एवं नित्य-रस पाता है।

आपका अभेदस्वरूप

....

2

अजमेर

मेरे निजस्वरूप, 10-10-43

सभी आस्तिकों का एकमात्र यही मत है कि सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन सर्वोत्कृष्ट अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य से सम्पन्न हैं, किन्तु फिर भी चित्त स्वाभाविक उनकी ओर नहीं जाता, यह प्रश्न ईश्वरवादियों का प्राय: होता रहता है। मेरे सामने यह प्रश्न अनेक लोगों ने अनेक बार अनेक युक्तियों से रखा है। बात बड़ी विचित्र है, क्योंकि यह प्रश्न अपने को अपने प्रेम-पात्र से दूर कर रहा है।

अनेक दृष्टियों से देखने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हम जिस प्रकार की विकल्प-रहित स्वीकृति स्वीकार करते हैं, हमारे प्रेम-पात्र हमारी रुचि की पूर्ति तथा उसकी वास्तविकता बताने के लिए उसी प्रकार की लीला करते हैं। स्वीकृति स्वीकृति-कर्ता का स्वरूप नहीं होता और न लीला लीलाधारी की सत्ता होती है। देखिए, शतरंज का बादशाह खेलने वाले की दृष्टि में होता है, स्वरूप से नहीं। यद्यपि प्रत्येक प्राणी का चित्त स्वाभाविक ही अपने प्रेम-पात्र की ओर आकर्षित होता है, परन्तु प्राणी प्रमाद-वश समझ नहीं पाता।

अभिनय अभिनयकर्ता का स्वरूप नहीं होता, यह सभी अभिनयकर्ता जानते हैं। अभिनयकर्ता केवल मन में छिपे हुए राग की निवृत्ति के लिए और दर्शकों की एवं थियेटर कम्पनी के मालिक की प्रसन्नता के लिए ही अभिनय करता है, अथवा यों कहो कि जिस अभिनय से अभेद हो जाता है, उसको

सजीव बनाने के लिए अभिनय करता है। ऐसा कोई भी अभिनेता नहीं देखा, जिसने अपने अभिनय को परिवर्तन करने की रुचि प्रकट न की हो।

परिवर्तन की रुचि अभिनयकर्ता को अभिनय से पृथक् करने में समर्थ है, परन्तु राग की यह महिमा है कि दोष जानते हुए भी त्याग करने की शक्ति निर्बल हो जाती है। यद्यपि किसी भी प्राणी को अपनी दृष्टि से देखे हुए दोष में स्वाभाविक प्रियता नहीं होती, परन्तु राग के कारण बेचारा प्राणी त्याग से हार स्वीकार करने लगता है।

स्वाभाविक प्रियता निर्दोष तत्त्व से ही हो सकती है, जो प्रेम-पात्र का स्वरूप है। प्रेम-पात्र को निर्दोष जानते हुए भी उनसे अभेद होने के लिए प्रेमी केवल द्वेष के कारण इन्कार करता है, क्योंकि यह द्वेष की महिमा है कि निर्दोष जानते हुए भी नहीं अपना पाते। प्रत्येक द्वेष का जन्म किसी-न-किसी राग से होता है।

बेचारे अभिनय-कर्ता को अभिनय से राग और अपने प्रेम-पात्र निज स्वरूप से द्वेष हो गया है, इसी कारण अभिनय में जीवन-बुद्धि हो गई है और अपने स्वरूप तथा प्रेम-पात्र से प्रमाद हो गया है। अभिनय का राग यद्यपि बेचारे अभिनयकर्ता को चैन से नहीं रहने देता, परन्तु वह प्रमादवश अभिनय द्वारा ही बेचैनी मिटाना चाहता है, यह उसकी बुद्धि का प्रमाद है।

यदि वह अभिनय में जीवन-बुद्धि स्वीकार न करे, प्रत्युत खेल को केवल राग-निवृत्ति का साधन माने, तो खेल के अन्त में उसे सुगमतापूर्वक अपने निज-स्वरूप तथा प्रेम-पात्र को अपने आपसे जान लेता है। उस काल में प्रेम-पात्र भी लीला-भाव को त्याग, उससे अभिन्न हो जाते हैं।

हमारे प्यारे हमारे अभिनय की पूर्ति के लिए सब प्रकार से निर्दोष तथा पूर्ण होते हुए भी, लीला-भाव धारण कर, हमारे जैसे ही होकर हमारे सामने आते हैं। अन्तर केवल इतना है कि हम अभिनय में अपने को भूल जाते हैं, पर वे लीला करते हुए अपने को नहीं भूलते। यह उनका माधुर्य एवं ऐश्वर्य है कि हमारी इच्छा-पूर्ति के लिए निरन्तर अनेक लीलाएँ करते हैं।

प्रमादवश हम अपने को अथवा उनके स्वरूप को भूलकर अपने को अभिनय-कर्ता और उनको लीलामय न जानकर अपने अभिनय को और उनकी लीला को स्वरूप सत्ता मान लेते हैं। यह राग-द्वेष की महिमा है। यद्यपि राग-द्वेष भी अभिनय का एक पार्ट है और कुछ नहीं, क्योंकि वह त्याग और प्रेम से निवृत्त हो जाता है। लीला का आरम्भ कब से और क्यों हुआ, इसका

ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ पता नहीं चलता, परन्तु हमको यही मालूम होता है कि जब से हमने अभिनय किया, तब से ही प्यारे ने लीला की।

जब हम खेलना बन्द कर देते हैं, तब हमारे प्यारे हमारे होकर ही हम में निवास करते हैं। इस दृष्टि से अभिनय तथा लीला की सत्ता प्रेमी तथा प्रेम-पात्र से भिन्न शेष नहीं रहती। अत: लीला कब से हुई, यह प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है। अब कृपया लीलाधारी की लीला देखिए। जब हम अपने में शरीर-भाव का अभिनय स्वीकार करते हैं, तब हमारे प्यारे विश्वरूप होकर लीला करते हैं। शरीर होकर किसी भी प्राणी ने विश्व से भिन्न कुछ नहीं जाना।

जब हम इन्द्रिय-जन्य स्वभाव धारण करते हैं, तब हमारे प्यारे विषयों के स्वरूप में प्रतीत होते हैं। जब हम परिवर्तन को देख, जिज्ञासु भाव धारण करते हैं, तब हमारे प्यारे तत्त्वज्ञान होकर लीला करते हैं। जब हम प्रेम की आवश्यकता के कारण प्रेमी का पार्ट स्वीकार करते हैं, तब हमारे प्यारे प्रेम-पात्र होकर प्यार करते हैं। जब हम विद्यार्थी का पार्ट करते हैं, तब हमारे प्यारे विद्या होकर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार हमारी इच्छा के अनुरूप हमारे प्यारे अनेक लीलाएँ करते हैं। जब हम अपने में से अभिनय-भाव निकाल देते हैं, तब हमारे प्यारे भी अपने में से लीला-भाव निकाल देते हैं।

क्या इस दृष्टि से उनमें अनन्त ऐश्वर्य या माधुर्य सिद्ध नहीं होता? क्या स्वाभाविक ही हम उनकी ओर आकर्षित नहीं होते? हम अपने को बिना ही बदले, 'उनको' बदला हुआ देखना चाहते हैं। हमारी इस बेईमानी ने हमारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न कर दिया है कि यदि वे अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य सम्पन्न हैं, तो हमारा मन स्वाभाविक ही उनकी ओर आकर्षित क्यों नहीं होता? हम शरीर बनकर तो केवल उनको विश्वरूप में ही देख सकते हैं। जब तक हम जिज्ञासु-भाव धारण नहीं करेंगे, तब तक प्यारे के शुद्ध स्वरूप को नहीं जान सकते। हम विषयी होकर अनेक प्रकार के दूषित, घृणित और निन्दनीय खेल खेलते हैं। हमारे प्यारे हमारी पूर्ति एवं प्रसन्नता के लिए निर्दोष होते हुए भी विकारयुक्त लीलाएँ करते हैं।

हमारे प्यारे हमको निर्दोषता की ओर आकर्षित करने के लिए निरन्तर हमारे बनाए हुए खेलों को मिटाते या परिवर्तित करते रहते हैं। हम खेल में इतने आसक्त हो जाते हैं कि उनकी इस अहैतुकी कृपा पर ध्यान ही नहीं देते। वे हमारी खेलने की रुचि के लिए अनेक खेल खिलाते हुए स्वतंत्रता नहीं छीनते। भला, इतना माधुर्य और किसमें हो सकता है? हम लोभी होकर प्यारे को कंचन के स्वरूप में देखते हैं और कामी होकर कामिनी के स्वरूप में

देखते हैं। अनेक युक्तियों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारे प्यारे हमारे अनुरूप ही लीला करते हैं। क्या हमको यह शोभा देता है कि हम अपने प्यारे से निन्दनीय लीलाएँ कराएँ? हम अपने को सीमित कर अपने प्यारे को सीमित भाव में देखने का प्रयत्न करते हैं।

प्रत्येक दोष में अनेक दोष छिपे रहते हैं। जैसे, शरीर-भाव धारण करते ही देश, जाति, सम्प्रदाय आदि भाव आने लगते हैं और हमारी अहंता सीमित होती चली जाती है। ज्यों-ज्यों हम सीमित होते चले जाते हैं, त्यों-त्यों हमारा प्रेम मोह में बदलता जाता है। हम सीमित होकर अपने प्यारे को भी सीमित देखने लगते हैं, यद्यपि वे स्वरूप से सदैव अनन्त तथा असीम ही रहते हैं। जब हम निरन्तर परिवर्तन के विधान पर ध्यान नहीं देते और अपने को सीमित करने का ही प्रयत्न करते हैं, तब हमारे प्रेम-पात्र हमारे साथ विवश होकर अपने ऐश्वर्य से संहार-लीला करते हैं। उनकी इस लीला में भी अनन्त माधुर्य छिपा है।

प्राकृतिक विधान के अनुरूप शरीर विश्व की वस्तु है, एवं निरन्तर परिवर्तनशील है। अतः हमको शरीर में देश, जाति, सम्प्रदाय आदि का भाव आरोपित नहीं करना चाहिए, न परिवर्तनशील शरीर को अपना जीवन समझना चाहिए और न उसकी आवश्यकता सदा के लिए समझनी चाहिए, क्योंकि यदि शरीर सदा के लिए होता, तो उसका निरन्तर परिवर्तन नहीं होता। न्याय-दृष्टि से तो शरीर केवल विश्वसेवा के लिए मिला है। हमको शरीर होकर विश्व में माने हुए भेद-भाव को मिटाकर केवल अपने प्यारे को ही देखना चाहिए।

जब हम अपने प्यारे को ही देखेंगे, तब प्यारे की कृपा से हमारा शरीर-भाव अपने आप गल जाएगा और हम अपने प्रेम-पात्र का पवित्र प्रेम पा जाएँगे। यह उनकी प्रेममयी लीला है कि जो उन्हें देखता है, उसे वे अवश्य अपना लेते हैं। यदि हम मानी हुई स्वीकृतियों को त्याग, उनके होकर रहने लगें, तो वे हमारी सभी निर्बलताओं का अन्त अवश्य कर देंगे। यदि हमको अभी लीलाएँ देखने की रुचि है, तो पवित्र लीलाएँ देखनी चाहिएँ। हम क्यों नहीं जिज्ञासु होकर तत्त्वज्ञान, एवं भक्त होकर भगवान् की परम मनोहर नित्य लीला देखते? हम शरीर होकर, विषयी होकर अनित्य लीलाएँ देखना पसन्द करते हैं। हमें अपनी इस योग्यता पर लज्जा आनी चाहिए।

अनित्य-जीवन एवं अनित्य-लीला, नित्य-जीवन एवं नित्य-लीला का साधनमात्र है, जिस प्रकार बच्चों के खेलने के लिए ताश का बादशाह, जो वास्तव में कागज का टुकड़ा है, किन्तु बादशाह मालूम होता है। ताश का बादशाह सच्चे बादशाह की सत्ता की स्वीकृति में समर्थ है, क्योंकि कोई भी

अभिनय बिना किसी आधार के नहीं हो सकता। अनित्य-जीवन, नित्य-जीवन की आवश्यकता है और कुछ नहीं। परिवर्तनशील जीवन को कभी भी जीवन मत समझो, यह तो नित्य-जीवन का साधन है। यद्यपि प्रत्येक साधन साध्य से अभिन्न करने के लिए आवश्यक है, परन्तु जब प्राणी प्रमादवश साधन को ही साध्य मान लेता है, तब साधन में आसक्त और साध्य से विमुख हो जाता है। जो साधन साध्य तक पहुँचाने में समर्थ था, उसका दुरुपयोग होने से वह साध्य से दूर करने में समर्थ हो गया।

अत: प्राकृतिक-विधान के अनुरूप मिली हुई परिस्थिति का सदुपयोग करना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। परिस्थिति का सदुपयोग करने पर परिस्थिति का दासत्व मिट जाता है और प्रेमी प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है। परिस्थिति का दुरुपयोग करने पर कर्ता परिस्थिति की सुदृढ़ शृंखलाओं में बँध जाता है और भविष्य में वर्तमान परिस्थिति से पतित परिस्थिति के लिए विवश होता है। अत: हमको वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए। हमको जो कुछ मिला है, वही हमारे लिए हित का साधन है, क्योंकि प्राकृतिक विधान न्यायपूर्ण है। हमको जो मिला है, उसका सदुपयोग करने पर ही, हमारा प्रेम-पात्र हमें अवश्य अपना लेगा।

अत: हमको प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसा करने से हम स्वत: विषयों से विमुख हो, अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य-सम्पन्न सर्व-समर्थ प्रेम-पात्र से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाएँगे।

आपका अभेदस्वरूप

....

3

....

8-7-44

मेरे निजस्वरूप,

दु:ख भरा पत्र मिला। प्रियजनों के वियोग से भयंकर वेदना अनिवार्य है, परन्तु वियोग की वेदना से बचने के लिए ही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। विधाता का विधान न्याय-पूर्ण है, परन्तु हम आसक्तिवश उस विधान को अन्याय मान लेते हैं। हम सार्वभौम (Universal) होते हुए भी अपने को

किसी-न-किसी सीमा में आबद्ध कर लेते हैं। इसी कारण हमको ऐसी घटनाओं का दु:ख होता है। सीमा में आबद्ध हुए बिना प्राणी भोग नहीं कर सकता, अर्थात् वस्तुओं के संयोग से सुख का आस्वादन नहीं कर पाता; क्योंकि विश्व के साथ एकता स्वीकार करने पर तो वियोग-जनित घटनाएँ निरन्तर होती ही रहती हैं, परन्तु हमारे मन पर उन घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं होता, हम देखते हुए भी नहीं देखने के समान रहते हैं। परन्तु जब हमारे माने हुए संघठन में कोई ऐसी घटना हो जाती है, तब हृदय में बेचैनी उत्पन्न हो जाती है और हम विधाता के विधान को अन्याय कहने लगते हैं। यह हमारी भोगासक्ति की महिमा है।

वियोग ने संयोग के रस को खा लिया और नित्य-योग की आवश्यकता जागृत् कर दी। नित्य-योग की आवश्यकता नित्य-योग से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि नित्य-योग की आवश्यकता संयोग में वियोग देखने की शक्ति प्रदान करती है। संयोग में वियोग अनुभव करते ही नित्य-योग स्वयं आ जाता है। जो प्राणी वियोग आने पर भी संयोग की इच्छा तथा चिन्तन करता है, उसको वियोग-जनित अनेक वेदनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। जो प्राणी वियोग होने पर संयोग की इच्छा नहीं करता, उसको वियोग आनन्दघन भगवान् से अभिन्न कर देता है। जिस संयोग की कृपा से हम शरीर तथा वस्तु आदि के दास बन जाते हैं, वह संयोग तो हमको प्यारा लगता है और जिस वियोग की कृपा से हम अपने में ही सब कुछ पा लेते हैं, उसका तिरस्कार करते हैं।

यदि वियोग का तिरस्कार नहीं करते, तो उसके आने पर दु:खी क्यों होते? यदि संयोग को प्यार नहीं करते, तो उसके जाने पर भी उसका चिन्तन क्यों करते? न मालूम कब तक हम संयोग की दासता एवं वियोग का तिरस्कार करते रहेंगे! वह कौन-सा दिन होगा कि जब हम अपने पर अपनी कृपा कर, अपने को संयोग की दासता से और वियोग के भय से छुटकारा पाने के लिए अपनी प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करेंगे! यह नि:सन्देह सत्य है कि मिली हुई शक्ति का सदुपयोग करने पर आवश्यक शक्ति अपने-आप आ जाती है। अत: मानव-जीवन में हार स्वीकार करने के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

आपका अभेदस्वरूप

....

4

....

17-11-44

भक्तवर,

जिसे ध्रुव सत्य समझा है, उसका आदर करो, केवल कथन न करो। भगवान् की कृपा सर्वत्र सर्वकाल में विद्यमान् है, किन्तु उसकी अनुभूति केवल कृपा-पात्र होने पर ही होती है। निःसन्देह भगवान् की कृपा का बल भगवान् को तथा उनकी गुणमयी-माया को मोहित करता है, अर्थात् कृपा-पात्र पर किसी भी अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का शासन नहीं होता। अनन्त-काल की निर्बलताएँ उसी काल में मिट जाती हैं, जिस काल में साधक सद्भाव-पूर्वक भगवान् का हो जाता है। उनका होने के लिए केवल मिली हुई योग्यता का सदुपयोग करना है। विचारशील दोष को देखकर दोष का त्याग करते हैं, अपने को दोषी नहीं मानते, प्रत्युत अपने में निर्दोषता की स्थापना कर, अभय हो जाते हैं।

दोष का ज्ञान दोष के त्याग में समर्थ है, क्योंकि जिस ज्ञान से दोष दिखाई देता है, उसी से निर्दोषता की आवश्यकता स्वतः जागृत् हो जाती है एवं दोषों के त्याग की शक्ति भी आ जाती है। परन्तु साधारण प्राणी केवल बुद्धि के व्यापार से गुण-दोष का चिन्तन करते हैं। चिन्तन एक प्रकार की क्रिया-विशेष है। क्रिया-जन्य रस सभी दोषों का मूल है। अतः ऐसी दशा में वह दोषों को दोष जान लेने पर भी दोष के त्याग में तथा निर्दोष को निर्दोष जानने पर भी उसके अपनाने में असमर्थ हो जाता है। इस कारण विचारशील साधक को दोष को 'दोष' जानते ही दोष का त्याग कर देना चाहिए और अपने में निर्दोषता की स्थापना कर, अचिन्त हो जाना चाहिए। यह नियम है कि जिस भाव का सम्बन्ध अहंभाव से हो जाता है, उस भाव में सत्यता तथा प्रियता स्वतः उत्पन्न हो जाती है। अतः निर्दोषता की प्राप्ति के लिए अहंभाव में निर्दोषता का स्थापित होना परम अनिवार्य है।

आपकी दृष्टि जिस व्यक्ति को आदर की दृष्टि से देखती है, उसका सन्देश अपना लेना ही उस व्यक्ति का वास्तविक आदर है। सद्भावपूर्वक प्रेम-पात्र के होकर, अपना सब कुछ समर्पण कर, अचिन्त हो जाओ; यही परम पुरुषार्थ है।

आपका अभेदस्वरूप

....

5

ऋषिकेश

30-5-45

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

तुमने जब से यह स्वीकार किया है कि, 'मैं केवल भगवान् की हूँ', तब से तुम्हारी आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति और अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति के सभी साधन स्वत: उत्पन्न होते जा रहे हैं। अत: तुमको भगवान् की सुधामयी पतित-पावनी सर्व-समर्थ अहैतुकी कृपा पर दृढ़ विश्वास कर, अचिन्त हो जाना चाहिए। ज्यों-ज्यों अचिन्तता बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों आवश्यक शक्तियों का विकास स्वत: ही हो जाएगा।

यह भली प्रकार समझ लो कि भक्त के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। ज्यों-ज्यों भक्त का हृदय प्रेम-पात्र की प्रीति से छकता जाता है, त्यों-त्यों अदृश्य से उत्पन्न हुआ सुख-दु:ख स्वत: मिटता जाता है। अत: तुम्हारे व्यथित हृदय में प्रेम-प्रात्र की प्रीति की गंगा निरन्तर लहरानी चाहिए। देखो बेटी! दु:ख भूल जाओ, भूतकाल भूल जाओ, आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन मत करो, सब प्रकार से भगवान् की होकर उनकी कृपा की प्रतीक्षा करती रहो। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

6

उत्तरकाशी

भक्तवर, 16-6-45

सर्वदा अभय रहो।

यह मैं जानता हूँ कि तुम्हारे जीवन में अनेक मानसिक एवं शारीरिक आघात पड़े हैं, परन्तु बेटी! दु:ख से प्राणी को कभी डरना नहीं चाहिए। हाँ, उसका सदुपयोग करना चाहिए। दु:ख का सदुपयोग 'त्याग' है, क्योंकि दु:ख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। शरीर को अपना मत समझो,

हठीलापन छोड़ दो। निष्काम-भाव से सेवा करने वाले भक्तजनों की आज्ञा का पालन करो। बड़ी-से-बड़ी कठिनाई को प्रसन्नतापूर्वक सहन करती रहो; यही तप है। प्रत्येक श्वास भगवच्चिंतन करते हुए बिताओ। घबड़ाओ मत। दु:ख में धीरज तथा धर्म ही काम आता है। तुम अपने को भक्त का मानती हो। भक्त का परम धर्म है—भगवान् के शरणापन्न हो जाना, अपने बनाए हुए मोहजनित सम्बन्धों को मिटा देना और अपने-आप आई हुई कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेना। तुम मुझे बुलाने के लिए लिखती हो; इससे तुम्हारा क्या लाभ होगा? तुम जिस प्रकार से मुझे बुलाती हो, यदि उस प्यार से प्रभु को बुलाओ, तो तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। संसार से निराश होकर व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र को बुलाओ, इसी से हित होगा।

देखो बेटी! मानव-जीवन बड़े मूल्य की वस्तु है। अत: उसका सदुपयोग करना चाहिए।

आपका अभेदस्वरूप

....

7

देहली

भक्तवर, 15-7-45

सर्वदा अभय रहो।

दु:खी प्राणी को केवल दु:खहारी हरि का होकर रहना चाहिए। सच्चा त्याग कल्पतरु के समान है। जिस मन से शरीर आदि वस्तुओं का ध्यान निकल जाता है, उस मन में भगवद्ध्यान स्वत: होने लगता है, क्योंकि वस्तुओं के ध्यान ने भगवद्ध्यान से विमुख किया है। जिस अहंता से सभी सम्बन्ध तथा स्वीकृतियाँ निकल जाती हैं, उस अहंता में आनन्दघन भगवान् निवास करते हैं। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना मत समझो। निरन्तर-प्रेम-पात्र का चिन्तन करते रहो, अथवा उनके समर्पित हो, अचिन्त हो जाओ।

जिस प्रकार तृषावन्त-प्राणी को जल न मिलने पर जल की अभिलाषा स्वत: उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, उसी प्रकार सच्चे प्रेमियों के हृदय में प्रेम-पात्र के मिलने की अभिलाषा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। यह भली प्रकार समझ लो कि सुख का राग मिटाने और असार-संसार से ऊपर उठाने के लिए ही दु:ख आता है। अत: दु:खी प्राणियों को संसार की आशा नहीं करनी चाहिए। ज्यों-ज्यों चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता और मन में

स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आवश्यक शक्तिओं का विकास स्वत: होता जाता है। निर्वासना आने पर चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता और मन में स्थिरता स्वत: आ जाती है। सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रेम-पात्र का हो जाने पर निर्वासना आ जाती है।

वासनाओं का त्याग हो जाने पर हृदय प्रेम-पात्र के रहने के योग्य बन जाता है। वासनाओं की मलिनता प्रेम-पात्र से मिलने नहीं देती। अपने बिगड़े हुए स्वभाव पर बलपूर्वक शासन करो, अर्थात् उसको बदल दो। अपने दोष तथा दूसरों के गुण देखने का प्रयत्न करो। अपने गुण तथा दूसरों के दोष स्वप्न में भी मत देखो। अपनी निर्बलताओं को देखकर उनको पुन: न होने देने का दृढ़ संकल्प करो और दु:खी हृदय से प्रेम-पात्र से प्रार्थना कर, अचिन्त हो जाओ। निर्बलताओं का चिन्तन मत करो। मानव जीवन घोर प्रयत्न के लिए मिला है; अत: हार स्वीकार मत करो। अनेक बार असफल होने पर भी सफलता के लिए घोर प्रयत्न करना चाहिए। राग-द्वेष को मिटाकर हृदय में त्याग-प्रेम की गंगा लहरानी चाहिए। त्याग से राग और प्रेम से द्वेष मिट जाता है। ॐ,

आपका अभेदस्वरूप

....

8

....

भक्तवर, 22-7-45

सेवा का विचारात्मक रूप त्याग है और त्याग का क्रियात्मक रूप सेवा है, अत: सेवा तथा त्याग स्वरूप से एक हैं। त्याग से निर्बलताएँ मिट जाती हैं और सेवा से भोग-वासनाएँ मिट जाती हैं, भोग की आसक्ति शेष नहीं रहती; अत: हृदय की उन्नति होती है। सुखी प्राणियों को सेवा का साधन सुलभ है, दु:खी प्राणियों के लिए त्याग सुलभ है। त्याग के पश्चात् मूक सेवा सुलभ होने लगती है। सेवा के अन्त में सर्व-त्याग अपने-आप आ जाता है। आरम्भ में साधक अपनी योग्यता की दृष्टि से साधन में प्रवृत्त होता है, अर्थात् साधक को योग्यता के अनुसार साधन में एकदेशीयता होती है, किन्तु ज्यों-ज्यों साधक का अहंभाव साधनमय होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी एकदेशीयता स्वत: मिटती जाती है।

जिस प्रकार बर्फ नदी बनकर समुद्र में विलीन होती है, उसी प्रकार साधक साधन बनकर साध्य से अभिन्न होता है।

आपका अभेदस्वरूप

....

9

जोधपुर

भक्तवर, 15-9-45

सर्वदा अभय रहो।

मन की स्थिरता के लिए संयोग की दासता तथा भोग-वासनाओं का त्याग परम अनिवार्य है। ज्यों-ज्यों संयोग की दासता मिटती जाती है, त्यों-त्यों मन में स्थिरता स्वतः आती जाती है और ज्यों-ज्यों मन में स्थिरता आती जाती है, त्यों-त्यों छिपी हुई शक्तियों का विकास अपने-आप होता जाता है।

प्रत्येक प्राणी में आवश्यक शक्ति विद्यमान है, किन्तु व्यर्थ चिन्तन करने से शक्ति का विकास नहीं हो पाता। जो प्राणी आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन नहीं करता, उसके मन में ध्यान करने की शक्ति अवश्य आ जाती है। ध्यान करने के लिए संसार को सहायता की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत उससे असंग होना अनिवार्य है।

जिसके मन से वस्तुओं का चिन्तन-ध्यान निकल जाता है, उसका मन आनन्दघन भगवान् का ध्यान स्वतः करने लगता है। ध्यान वही है, जो अपने-आप हो।

जिस प्रकार सूखी लकड़ी को नदी का बहाव जहाँ चाहता है, ले जाता है, लकड़ी जल से कुछ नहीं कहती; उसी प्रकार भक्त को भगवान् जहाँ चाहें, ले जाते हैं, भक्त भगवान् से कुछ नहीं कहता। अतः अपने में भक्त-भाव की स्थापना कर अचिन्त हो जाओ, अर्थात् किसी प्रकार का चिन्तन मत करो। सब प्रकार के चिन्तन का त्याग होते ही अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव होगा। प्रेमी तथा प्रेम-पात्र के बीच में केवल चिन्तन ही रुकावट है, जो दोनों को मिलने नहीं देता। जिसने व्यर्थ-चिन्तन का त्याग किया, उसने ही प्रियतम के प्रेम को पाया है।

देखो, जो प्राणी अपने को छोटी-छोटी प्रसन्नताओं में आबद्ध नहीं करता, उसी को स्थाई, असीम, अनन्त, अखण्ड प्रसन्नता मिलती है। उस प्रसन्नता के

प्राप्त करने में प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। परतन्त्रता तो केवल संयोग से उत्पन्न होने वाले रस के लिए है, जिसे विचारशील स्वीकार नहीं करते, क्योंकि संयोग में वियोग का भय सर्वदा बना रहता है। भययुक्त प्रसन्नता उन्हीं प्राणियों को प्रिय है, जिनमें सच्ची आस्तिकता नहीं है। आस्तिक प्राणी तो उसी प्रसन्नता को स्वीकार करता है, जिसमें किसी प्रकार का भय न हो।

प्रीति का पाठ मछली से पढ़ना चाहिए। मछली जल के बिना किसी भी प्रकार चैन से नहीं रहती, किन्तु अभागा जल कभी-भी मछली का स्मरण नहीं करता। हाँ, यह अवश्य है कि जो जल की धारा बड़ी-बड़ी पहाड़ियों को तोड़ देती है, मछली उस धारा के विपरीत स्वतन्त्रतापूर्वक विचरती है। जल उस पर अपना लेशमात्र भी शासन नहीं कर पाता, प्रत्युत प्यार करता है। उसी प्रकार सच्चा प्रेमी, प्रेमास्पद के पवित्र प्रेम को पाकर सब प्रकार से सन्तुष्ट हो, कृतकृत्य हो जाता है। उस पर संयोग की दासता तथा वियोग के भय का लेशमात्र भी शासन नहीं रहता।

ॐ आनन्द! आनन्द ! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

10

जोधपुर

भक्तवर, 17-9-45

सर्वदा अभय रहो।

जो प्राणी अपने में ही अपने प्रियतम की स्थापना नहीं करता, उस बेचारे को स्थाई अखण्ड प्रसन्नता नहीं मिलती, क्योंकि जब तक प्राणी अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की खोज करता है, तब तक मन में स्थाई स्थिरता नहीं आती। मन की स्थिरता के बिना वियोग का भय नहीं मिटता और न नित्य-योग प्राप्त होता है। यद्यपि मन की स्थिरता के लिए प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है, परन्तु संयोग की दासता का रस मन को स्थिर होने नहीं देता, अर्थात् अविषय नहीं होने देता।

भगवान् की अहैतुकी कृपा से रोग-ग्रसित होने के कारण आपको मन पवित्र करने के लिए बड़ा ही सुअवसर मिला है, क्योंकि रोग से शरीर की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है, जिससे भोग-वासनाओं का त्याग करने की शक्ति आ जाती है। देखो, रोग से डरो मत, प्रत्युत उसका सदुपयोग करो। रोग का सदुपयोग भोग-वासनाओं का अन्त कर देता है। भोग-वासनाओं का अन्त

होते ही आप अपने में ही अपने प्रियतम की स्थापना कर सकेंगी, अर्थात् अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद का अनुभव करेंगी। हृदय प्रियतम के प्रेम से छका रहे, राग-द्वेष शून्य हो जाए, यही सच्ची भक्ति है, जो भक्त होने पर स्वत: आ जाती है।

प्रीति दो कारणों से ही उत्पन्न होती है—आवश्यकता तथा अपनत्व से, क्योंकि जिसको अपना मान लेते हैं, उससे बिना ही प्रयत्न प्रियता हो जाती है और जिसकी आवश्यकता होती है, उससे भी प्रीति स्वत: होती है। गहराई से देखिए, प्यास लगने पर पानी से स्वत: प्रियता हो जाती है। अपना रोग-ग्रसित शरीर भी प्रिय मालूम होता है। अत: यह निर्विवाद सत्य है कि अपनत्व से तथा आवश्यकता से प्रीति उत्पन्न हो जाती है। यदि आप सर्व-समर्थ आनन्दघन भगवान् से सद्भाव-पूर्वक अपनत्व कर लेंगी, अथवा उनके परम प्रेम का आस्वादन करने की आवश्यकता स्थाई बना लेंगी, तो हृदय में प्रीति की गंगा स्वत: लहराने लगेगी। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थाई होती जाएगी, त्यों-त्यों सभी दोष स्वत: मिटते जाएँगे।

आप विचारपूर्वक अपनी दृष्टि से अपने मन को देखिए। कहीं उसमें यह तो नहीं छिपा है कि आप अपनी बालिकाओं को अपनी मानती हो! मेरा यह विश्वास है कि जब आप सच्चाईपूर्वक उनसे अपनत्व हटा लोगी, तब बालिकाओं के हित तथा प्रसन्नता के साधन स्वत: उत्पन्न हो जाएँगे, क्योंकि जो वस्तु सर्व-समर्थ भगवान् के समर्पित हो जाती है, उसका हित अवश्य होता है। वे तुम्हारी होकर प्रसन्न नहीं हो सकतीं। तुम्हारा शरीर तुम्हारा होकर स्वस्थ नहीं हो सकता, तुम संसार की होकर प्रसन्नता नहीं पा सकतीं। अर्थात् जिस काल में बालिकाएँ तुम्हारी नहीं रहेंगी, तुम्हारा शरीर तुम्हारा नहीं रहेगा और तुम संसार की होकर नहीं रहोगी, बस, उसी काल में स्थाई प्रसन्नता तुम्हारे पैर पलोटेगी। अत: सच्चाईपूर्वक सभी सम्बन्धों को त्याग, सद्भावपूर्वक सब प्रकार से सर्व-समर्थ आनन्दघन भगवान् की हो जाओ। बस, इसी से कल्याण होगा।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

11

6-11-45

भक्तवर,

सदा अभय रहो।

बेचारी निर्बलता तभी तक जीवित है, जब तक प्राणी उसका शासन स्वीकार करता है; क्योंकि प्राणी की रुचि के विपरीत कोई भी निर्बलता जीवित नहीं रह सकती।

यह नियम है कि जिस स्वीकृति से प्राणी अपने को अभिन्न कर लेता है, उसमें सत्यता तथा प्रियता स्वत: आ जाती है। अर्थात् प्रत्येक स्वीकृति प्राणी की सत्ता से ही प्राणी पर शासन करती है।

जो साधक विचारपूर्वक अपने को सभी स्वीकृतियों से मुक्त कर लेता है, उस पर संयोग की दासता का रस अपना अधिकार नहीं कर पाता।

संयोग की दासता मिटते ही निर्वासना स्वत: आ जाती है, जो भगवद्भक्त का मुख्य साधन है। क्योंकि वासना-युक्त प्राणी में पवित्र प्रीति जागृत् नहीं हो पाती। प्रीति के बिना भगवत्प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। अत: भगवत्प्राप्ति के लिए निर्वासना परम अनिवार्य है। निर्वासना के लिए सभी स्वीकृतियों का त्याग परम आवश्यक है।

स्वीकृति एकमात्र अस्वीकृति से ही मिट सकती है। स्वीकृति मिटने पर अभ्यास अपने-आप होने लगता है। साधारण प्राणी अभ्यास के द्वारा स्वीकृति मिटाने का प्रयत्न करते हैं, जो परम भूल है।

स्वीकृति मिटने पर संसार से निराशा आ जाती है। ज्यों-ज्यों निराशा का भाव स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों निस्संकल्पता बिना ही प्रयत्न आती जाती है, जो वास्तव में सभी अभ्यासों का प्राण है।

जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, उनका हित-अहित की दृष्टि से निर्णय कर हितकारी संकल्पों को पूरा करो, किन्तु उनकी पूर्ति के रस में अपने को आबद्ध मत होने दो; क्योंकि पूर्ति का रस नवीन संकल्प उत्पन्न कर देगा, जो दु:ख का मूल है।

जितेन्द्रियता परम बल है। विकल्प-रहित भगवत्-विश्वास कल्पतरु के समान है।

निज-ज्ञान के अनुरूप जीवन बना लेना ही वास्तविक ईमानदारी है।

आगे-पीछे का चिन्तन भगवद्-ध्यान में विघ्न है। सभी वस्तुओं का ध्यान निकल जाने पर भगवद्-ध्यान स्वत: होने लगता है; क्योंकि अपना

बनाया हुआ दोष मिटा देने पर स्वाभाविक दिव्य गुण स्वत: उत्पन्न होने लगते हैं। अर्थात् वस्तुओं का स्मरण, चिन्तन, ध्यान अपना बनाया हुआ दोष है। उसके मिटते ही भगवच्चिंतन बिना ही प्रयत्न अपने-आप होने लगेगा, यह निर्विवाद सत्य है।

देखो, करने का अभिमान गल जाने पर, जो करना चाहिए, स्वत: होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए, वह उत्पन्न ही नहीं होता; क्योंकि करने का अभिमान किसी-न-किसी प्रकार द्वेष के आधार पर उत्पन्न होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि राग-द्वेष-युक्त कर्ता, जो उसे करना चाहिए, वह नहीं कर पाता। जब कर्ता वह नहीं कर पाता, जो करना चाहिए, तब विवश होकर वह करने लगता है, जो नहीं करना चाहिए। कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान राग-द्वेष रहित होने पर ही हो सकता है। राग-द्वेष की निवृत्ति अपने बनाए हुए सम्बन्धों का विचारपूर्वक त्याग करने से, एवं विकल्प-रहित विश्वासपूर्वक प्रेम-पात्र से नित्य सम्बन्ध करने से ही हो सकती है।

अत: सद्भाव-पूर्वक सब प्रकार से प्रेम-पात्र के हो जाओ; यही परम पुरुषार्थ है! और किसी का ध्यान मत करो, यही उनका ध्यान है। प्रेम-पात्र के ध्यान का प्रयत्न प्रेम-पात्र का ध्यान नहीं होने देता। वे बड़े चित-चोर हैं, किन्तु उसी चित्त को चुराते हैं, जिसमें वासनाओं का कचरा नहीं रहता। यदि उनको जानना चाहते हो, तो और किसी को मत जानो। जिसकी जानकारी उनसे भिन्न वस्तुओं में लगी है, उस जानकारी से वे नहीं जाने जाते। अर्थात् मिली हुई शक्तियों को अविषय कर दो; बस, फिर कुछ भी करना शेष नहीं है। शरीर, मन, इन्द्रियादि निर्जीव यंत्रवत् हैं। उन बेचारों में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। अहंभाव का जिससे सद्भावपूर्वक सम्बन्ध हो जाता है, मन, बुद्धि आदि उसी की ओर स्वत: दौड़ने लगते हैं। जो प्राणी अहंभाव में वस्तुओं को स्थापित कर लेते हैं और इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से आनन्दघन प्रेम-पात्र को प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी वह व्यर्थ चेष्टा है।

अहंभाव में प्रेम-पात्र की स्थापना करने से मन, बुद्धि आदि सभी अविषय हो जाते हैं, अर्थात् अहंभाव के अनुरूप ही मन, बुद्धि आदि की प्रवृत्ति होती है। अत: अहंभाव के पवित्र होने पर पवित्रता, भक्त होने पर भक्ति जिज्ञासु होने पर जिज्ञासा बिना ही प्रयत्न आ जाती है, जो उन्नति का मूल है। अत: जिसमें मन, बुद्धि आदि को लगाना चाहते हो, उसके अनुरूप ही अहंभाव को बना लो। यदि मन, बुद्धि आदि से अतीत होना चाहते हो, तो सीमित अहंभाव को मिटा दो।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

12

दिल्ली

15-11-45

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

प्रत्येक प्राणी अपने बनाए हुए दोष को मिटाने में सर्वथा स्वतन्त्र है। अत: उन्नति से निराश होना परम भूल है।

दोष का ज्ञान जिस शक्ति से होता है, उसी में दोष मिटाने की शक्ति भी विद्यमान है। अपना बनाया हुआ दोष मिटते ही निर्दोषता स्वत: आ जाती है।

निर्दोषता किसी व्यक्ति-विशेष की वस्तु नहीं है, उस पर सभी प्राणियों का अधिकार है। अर्थात् निर्दोषता के सभी अभिलाषी उसे स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं।

जब प्राणी अपने स्वीकार किए हुए दोनों प्रकार के भेदभाव तथा अभेदभाव सम्बन्धों का त्याग कर देता है, तब प्रेम-पात्र से प्रियता एवं प्रेम-पात्र की प्राप्ति अवश्य हो जाती है। भेद-भाव के सम्बन्धों का त्याग करते ही प्रेम-पात्र से प्रियता उत्पन्न हो जाती है। अभेद-भाव के सम्बन्धों का त्याग करते ही अपने में ही प्रेमास्पद का अनुभव हो जाता है, क्योंकि सीमित अहंभाव के मिटते ही असीम निर्दोष परमतत्त्व से अभिन्नता हो जाती है।

सम्बन्ध किसी अभ्यास के द्वारा नहीं मिटाए जा सकते, क्योंकि सभी अभ्यासों का जन्म सम्बन्धों से होता है। अर्थात् ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं होती, जिसका जन्म किसी स्वीकृति से न हो। यह भली प्रकार समझ लो कि अनन्त काल की स्वीकृति वर्तमान की अस्वीकृति से मिट सकती है। अत: प्रत्येक प्राणी सद्भावपूर्वक की हुई स्वीकृतियों को स्वेच्छापूर्वक जब चाहे तभी मिटा सकता है, यह निर्विवाद सत्य है। सभी स्वीकृतियों का अभाव होते ही निर्वासना आ जाती है। निर्वासना आते ही सभी दोष मिट जाते हैं, अथवा यों कहो कि निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है, जो प्राणी की वास्तविक आवश्यकता है।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

13

दिल्ली

19-11-45

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

विचारशील अपने-आप आई हुई परिस्थिति का सदुपयोग करते हैं। तुम अपने सद्भाव पर दृढ़ रहो। बड़ी-से-बड़ी प्रतिकूलता अपने-आप मिट जाएगी। प्रेम-पात्र के सिखाने के अनेक ढंग हैं। तुम्हारा हृदय कोमल है, इसलिए वेदनाओं से घबरा जाती हो। हृदय से प्रेम-पात्र को पुकारो। 'वे' सब कुछ कर सकते हैं। संसार कुछ नहीं कर सकता। तुम अपने सद्भाव पर दृढ़ रहो। असत्य कितना ही सबल हो, किन्तु निर्बल ही होता है। सत्य बाह्य-दृष्टि से कितना ही निर्बल हो, किन्तु सबल ही होता है। अर्थात् तुम्हारा सद्भाव तुम्हारे काम आएगा। प्रेम-पात्र की जिस अहैतुकी कृपा ने तुमको टी०बी० (T.B) जैसे भयंकर रोग की वेदना से बचाया है, उसी का सहारा लो, डरो मत। दु:ख डरने से दूना और न डरने से आधा रह जाता है।

दु:ख त्याग का पाठ पढ़ाने आता है, उसको पढ़ लो और अभय हो जाओ। तुम तो सब प्रकार से भगवान् की होकर, अचिन्त हो जाओ। जो प्राणी अपने सद्भाव का आदर करता है, उसकी विजय अवश्य होती है। तुमने बड़ी-बड़ी भयंकर वेदनाओं को सहकर अपने स्वधर्म की रक्षा की है, वह धर्म तुम्हारी रक्षा अवश्य करेगा। अब तुम्हारे जीवन का विकास होगा। इस कारण अनेक प्रतिकूलताएँ आएँगी और अपना अभिनय दिखाकर चली जाएंगी। तुम शान्तिपूर्वक प्रेम-पात्र की सुधामयी कृपा की लीला देखती रहो। सभी उलझनें स्वयं सुलझ जाएँगी। प्रतिकूलता आने पर डरा मत करो। डरने से प्रेम-पात्र का विश्वास दूषित हो जाता है। सच्चे प्रेमी प्रसन्नतापूर्वक फाँसी पर चढ़ जाते हैं, बड़ी-से-बड़ी वेदना को अपना लेते हैं। अर्थात् प्रेमी के हृदय में भय के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

14

यमुना-तट, दिल्ली

भक्तवर,

15-12-45

प्रसन्नचित्त रहने का स्वभाव बनाओ, अपने दु:ख का कारण किसी अन्य को न समझो। मोह-युक्त प्राणी स्थाई प्रसन्नता कदापि नहीं पाता।

ज्यों-ज्यों निर्मोहता स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति और अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति स्वत: होती जाती है। सद्भावपूर्वक मोह-जनित सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर, 'मैं भगवान् का हूँ', इस भाव में सत्यता आ जाती है, क्योंकि किसी का त्याग किसी की एकता हो जाती है।

सम्बन्ध तोड़ने तथा जोड़ने में प्राणी सर्वथा स्वतन्त्र है, इसके लिए कहना कि धीरे-धीरे होगा अथवा किसी और की सहायता से होगा, केवल छिपे हुए मोह की रक्षा करना है, अथवा अपने आपको धोखा देना है, जो किसी भी भक्त को शोभा नहीं देता।

भक्त होने पर भक्ति अपने-आप आ जाती है। यदि हृदय में प्रेम-पात्र की प्रीति की गंगा नहीं लहराती, तो समझ लो कि, 'मैं भक्त हूँ', इस भाव की दृढ़ता नहीं हुई अर्थात्, 'मैं सब प्रकार से भगवान् की हूँ,' इस भाव का सद्भाव नहीं हुआ।

भाव तथा अभ्यास में बड़ा भेद है। भाव वर्तमान में फल देता है और अभ्यास भविष्य में फल देता है। भाव कर्ता के अधीन है और अभ्यास शरीर आदि की सहायता से होता है। अर्थात् अभ्यास के लिए बाहरी अनुकूलता आवश्यक है, किन्तु सद्भाव के लिए बाह्य अनुकूलता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् निर्बल के बल हैं। यह भली प्रकार समझ लो कि सच्चा दु:खी सुखी की अपेक्षा कहीं अधिक सुगमतापूर्वक प्रेम-पात्र के प्रेम को पाकर सब प्रकार से अभय हो जाता है।

तन, मन आदि को प्रेम-पात्र के पूजन की सामग्री बना दो। यह तब हो सकता है, जब आप तन, मन आदि को अपना न समझें। जिन-जिन वस्तुओं को आप अपना न समझेंगी, वे स्वयं पवित्र होकर भगवान् की सेवा के योग्य बन जाएँगी, यह परम सत्य है। प्राणी सबसे बड़ी भूल यही करता है कि जो वस्तु वास्तव में अपनी नहीं है, उसे अपनी मान लेता है। इस भूल के निकल जाने पर जीवन-यात्रा सुगम तथा स्वतन्त्र हो जाती है। ऐसा जीवन की घटनाओं से अनुभव हुआ है।

जिन-जिन साधनों से शरीर का हित हो, उनको नि:संकोच निर्भयतापूर्वक करना चाहिए। मन की दासता में फँसकर शारीरिक हित की चेष्टाओं को न करना परम भूल है।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

15

दयालबाग, आगरा

भक्तवर, 17-12-45

सर्वदा अभय रहो।

देखो, तुमको इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि तुम्हारा जीवन केवल भगवच्चिन्तन के लिए है, क्योंकि मेरी दृष्टि में तुम्हारा दूसरा जन्म है, टी०बी० (T.B.) जैसे भयंकर रोग से प्राय: जीवन नहीं रहता।

भगवच्चिन्तन के लिए मन की पवित्रता तथा शारीरिक स्वस्थता परम आवश्यक है। मन की पवित्रता के लिए तो प्राणी स्वतन्त्रतापूर्वक साधन कर सकता है। यह नियम है कि मन के पवित्र होने पर भी मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता स्वत: आ जाती है और इन तीनों बातों के आ जाने से प्राणशक्ति सबल हो जाती है। प्राण के सबल होने से शरीर में रोग मिटाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अत: तुमको मन पवित्र करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

ज्यों-ज्यों प्रेम-पात्र की अहैतुकी कृपा का भरोसा दृढ़ तथा स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों सभी दोष स्वत: मिटते जाते हैं। अत: सब प्रकार से सद्भावपूर्वक प्रेम-पात्र का होकर अभय हो जाना चाहिए।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

16

आगरा

भक्तवर, 20-12-45

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी, भक्त होने के लिए मोह-जनित सभी सम्बन्ध सच्चाई पूर्वक तोड़ना परमावश्यक है। सम्बन्ध टूट जाने पर मोह मिट जाएगा। मोह मिट जाने पर हृदय सेवा के योग्य बन जाएगा। तब तुम भगवान् के नाते सेवा कर सकोगी। देखो बेटी, बालिकाएँ तुम्हारी होकर प्रसन्न नहीं रह सकतीं, तुम संसार की होकर प्रसन्न नहीं रह सकतीं; क्योंकि दु:खी के लिए संसार में कोई स्थान ही नहीं है और दु:खी को किसी की सेवा का अधिकार भी नहीं है।

सेवा सुखी प्राणियों का साधन है, दु:खियों का नहीं। दु:खियों का साधन एकमात्र त्याग है। अत: तुमको त्याग अपना लेना चाहिए, अर्थात् शरीर, मन आदि किसी भी वस्तु तथा सम्बन्धी को अपना मत समझो। जब तुम सच्चाई के साथ अपनी सभी वस्तुओं को सर्व-समर्थ भगवान् के पतितपावन श्रीचरणों पर चढ़ा दोगी, तभी तुमको सच्ची स्थाई प्रसन्नता मिल सकेगी।

यह भली प्रकार समझ लो कि ज्यों-ज्यों तुम्हारा मन भय, चिन्ता एवं संसार की आशाओं से ऊपर उठता जाएगा, त्यों-त्यों मन में स्थिरता तथा प्रसन्नता अपने-आप आती जाएगी। जयों-ज्यों स्थिरता तथा प्रसन्नता एवं निर्भयता बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों रोग मिटाने की शक्ति स्वत: आती जाएगी। यह सभी विचारशीलों का मत है कि प्राणी के मन में अनन्त शक्ति है, किन्तु मन के दूषित हो जाने के कारण अनन्त शक्ति दब जती है। उस छिपी हुई शक्ति को जागृत् करने के लिए मन के सभी दोष मिटाने पड़ेंगे, जो प्राणी ने स्वयं बनाए हैं।

ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसको प्राणी ने स्वयं नहीं बनाया है। शरीर आदि वस्तुओं के आधार पर प्रसन्नता खरीदने की भावना सभी दोषों का मूल है। जिस साधक ने यह समझ लिया है कि मिली हुई वस्तुओं का केवल सदुपयोग करूँगा, किन्तु किसी वस्तु के आधार पर अपने को जीवित नहीं रखूँगा, अर्थात् सभी वस्तुओं से अपना मूल्य बढ़ा लूँगा, उस साधक का मन अपने-आप पवित्र होने लगता है, क्योंकि वस्तुओं की दासता ने मन को अपवित्र किया है।

माताएँ अपने खान-पान के विषय में ध्यान नहीं देतीं। यह उनकी धारणा त्यागमय अवश्य है, परन्तु विचार-युक्त त्याग नहीं है। शरीर से अहंता का त्याग वास्तविक त्याग है। शरीर की निर्मोहता आदरणीय है, शरीर के साथ हित का व्यवहार न करना अन्याय है, शरीर की चिन्ता करना भूल है। शरीर की चिन्ता के लिए जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि शरीर स्वभावत: मिट रहा है। रोग का भय परम रोग है। अत: उसका त्याग अनिवार्य है।

वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर 'करने' से छुट्टी अपने-आप मिल जाती है। बाह्य छुट्टी, छुट्टी नहीं होती, अपितु कार्य का परिवर्तन होता है। साधारण प्राणी कार्य के परिवर्तन को छुट्टी मानते हैं, परन्तु विचारशील काम का अन्त करने पर छुट्टी जानते हैं। काम का अन्त आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति पर होता है, किसी नवीन परिस्थिति के आ जाने पर छुट्टी नहीं होती। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग छुट्टी का सर्वोत्कृष्ट साधन है। अनेक प्रकार की प्रतिकूलता आने पर भी कभी हार स्वीकार नहीं करनी

चाहिए, क्योंकि जो हार स्वीकार नहीं करता, वह विजय अवश्य पाता है। प्यारे! प्राकृतिक विधान (Natural Law) न्यायपूर्ण है; अत: परिस्थिति का सदुपयोग करने पर उन्नति अवश्य होती है।

आपका अभेदस्वरूप

....

17

चम्बल-तट, अबारी

भक्तवर, 28-12-45

सर्वदा अभय रहो।

आपने अपने पत्र में लिखा कि मेरा मन अकेला है। बड़े दु:ख की बात है कि इतने दिन सत्संग करने के पश्चात् भी तुम्हारा मन तुम्हारा है, अथवा प्रेम-पात्र के बिना अकेला है। अकेला मन वास्तव में कभी होता नहीं, क्योंकि मन का जन्म ही तब होता है, जब किसी-न-किसी प्रकार की वासना उत्पन्न हो जाती है। तुम अभी इस गहराई को समझ नहीं पातीं।

यह मैं भली प्रकार जानता हूँ कि तुम्हारा दु:खी हृदय पवित्र प्रीति तथा सम्मान का भूखा है। किन्तु लाली! यह भली प्रकार समझ लो कि पवित्र प्रीति प्रेम-पात्र के अतिरिक्त अन्य कोई करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि प्रीति प्रीतम का स्वभाव तथा प्रेमी की माँग है। तुमको अनेक भक्त-जनों द्वारा प्रीतिरूपी प्रसाद मिला है, वह भी वास्तव में प्रेम-पात्र की अहैतुकी कृपा है। ज्यों-ज्यों भक्तों का सीमित अहंभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों उनके हृदय में प्रेम-पात्र की पवित्र प्रीति की गंगा लहराने लगती है। साधारण प्राणी उस प्रीति को किसी व्यक्ति की प्रीति मान लेते हैं, जो वास्तव में भूल है। व्यक्ति तो केवल मोह कर सकता है, प्रीति नहीं, जो दु:ख का मूल है।

यह सभी प्रकार समझ लो कि सच्चे त्याग के बिना सम्मान तथा स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती और सच्चा त्याग आ जाने पर संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी तुम्हारी स्वतन्त्रता नहीं छीन सकती।

जिस प्रकार मछलियों के उछलने-कूदने से जल को खेद नहीं होता, उसी प्रकार संसार की ओर से आने वाले अनेक आक्रमणों से भक्त के हृदय में खेद नहीं होता। फिर न मालूम आपका मन छोटी-छोटी बातों से क्यों घबड़ा जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि सत्य देखने में कितना ही

छोटा हो और असत्य देखने में कितना ही बड़ा हो, किन्तु अन्त में सत्य की ही जय होती है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

18

चम्बल-तट, अबारी

4-1-46

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी, जो प्राणी लेशमात्र भी संसार का चिन्तन नहीं करता तथा जिसने सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है, वही दूसरों के द्वारा सेवा कराने का अधिकारी है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति की सेवा करने से सेवा करने वालों का हित होता है। अत: तुमको सच्चाईपूर्वक मन से संसार को निकाल देना चाहिए, तभी तुम प्रेम-पात्र का प्यार पा सकती हो।

प्राणी जिस वस्तु को अपना नहीं मानता, उसका मन में चिन्तन नहीं होता और जिस वस्तु को अपना मानता है, उसका चिन्तन-ध्यान अपने-आप होने लगता है। यह सिद्धान्त परम सत्य है।

शरीरादि सभी वस्तुओं को अपना मत समझो, फिर तुमको उनका चिन्तन-ध्यान नहीं होगा। केवल प्रेम-पात्र को अपना समझो; ऐसा करने से हृदय में प्रेम-पात्र की प्रीति स्वत: जागृत् होगी और मन से प्रेम-पात्र का चिन्तन-ध्यान अपने-आप होने लगेगा, जो सभी दोषों को मिटाने में समर्थ है।

बाहरी साधनों में अपने को अधिक मत फँसाओ। जहाँ तक हो सके हृदय से प्रेम-पात्र को पुकारो। उनकी अहैतुकी कृपा का बल सर्व-समर्थ है। अत: निरन्तर प्रेम-पात्र की कृपा की प्रतीक्षा करती रहो।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

19

दयाल-बाग, आगरा

7-1-46

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी, जब तुम सच्ची भक्त हो जाओगी और तुम अपने में अपना कुछ नहीं पाओगी, अर्थात् तुम्हारी प्रत्येक वस्तु सच्चाईपूर्वक प्रेम-पात्र की हो जाएगी, तो उन सभी का कल्याण अवश्य ही हो जाएगा, जिनको तुम अपना मानती थीं। परन्तु जब तक तुम लेशमात्र भी उन सभी सम्बन्धियों को अपना समझोगी, तब तक उनका सुधार कदापि नहीं हो सकता। यह भली प्रकार समझ लो कि सच्चा त्याग आ जाने पर पूर्व कर्मों का फल भी बदल जाता है, क्योंकि सच्चा त्याग वास्तव में मृत्यु के समान है, अर्थात् त्याग से जीवन में ही मृत्यु तथा नवीन जीवन मिल ज़ाता है। अत: प्रत्येक वस्तु से अपना सम्बन्ध तोड़कर सब प्रकार से सद्भावपूर्वक प्रेम-पात्र की हो जाओ।

तुमको सब लोगों के साथ रहते हुए भी अकेले के समान रहना चाहिए, अर्थात् किसी भी व्यक्ति से इतनी घनिष्ठता न हो कि वह व्यक्ति तुमसे बेकार बातें करे, अर्थात् तुम किसी को भी अपने मन बहलाने का साधन मत बनाओ। मन को भगवच्चिन्तन में लगा रहना चाहिए। जो प्राणी मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, वह सच्चा भक्त नहीं हो सकता, यह परम सत्य है।

किसी भी व्यक्ति को बुरा तथा भला मत समझो, क्योंकि दूसरों को बुरा समझने से मन में बुराई आ जाती है और प्रेम-पात्र के अतिरिक्त दूसरों को भला समझने से प्रेमपात्र का विश्वास मिट जाता है और मन संसार का दास बन जाता है, जो दु:ख का मूल है। सच्चे भक्त केवल प्रेम-पात्र के पवित्र गुणों को और अपने दोषों को देखते हैं, किन्तु दोष देखकर उनके मिटाने के लिए प्रेम-पात्र से व्याकुलतापूर्वक हृदय से प्रार्थना कर निर्दोष हो जाते हैं।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

20

आगरा

10-1-47

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी, सच तो यह है कि जब तक तुम्हारा मन स्थिर तथा प्रसन्न नहीं होगा, तब तक रोग मिटाने की शक्ति जागृत् नहीं हो सकती, क्योंकि मन के ठीक होने पर ही प्राण-शक्ति सबल होती है और प्राण-शक्ति के सबल होने पर ही रोग मिटाने की शक्ति आ सकती है—ऐसा सभी विचारशीलों का मत है।

संसार की सहायता के बिना प्रसन्नतापूर्वक रहने का नाम ही तप है। देखो बेटी! सच्चा भक्त वही है, जो केवल अपने प्रेम-पात्र के अतिरिक्त अन्य किसी की ओर नहीं देखता, क्योंकि भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती। अर्थात् भक्त के हृदय में-से संसार के सभी सम्बन्ध मिट जाते हैं, जिससे उसके मन में-से संसार की सत्यता तथा प्रियता सदा के लिए निकल जाती है। देखो बेटी, जब मन में-से संसार की सत्यता तथा प्रियता निकल जाती है, तब मन अपने आप स्थिर तथा प्रसन्न हो जाता है। देखो बेटी, रोग शरीर का अभिमान मिटाने के लिए आता है। जिस दिन शरीर का अभिमान गल जाएगा, उस दिन रोग बुलाने पर भी नहीं आएगा, क्योंकि शरीर तुम्हारा होकर स्वस्थ नहीं हो सकता।

अत: रोग मिटाने का सबसे सुगम उपाय यही है कि तुम शरीर को अपना मत समझो और मूक होकर हृदय से प्रेम-पात्र को पुकारती रहो, क्योंकि दुखी की पुकार दु:खहारी हरि के अतिरिक्त और कोई सुन नहीं सकता। संसार में दुखी के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

आपका अभेदस्वरूप

....

21

कलकत्ता

24-1-46

भक्तवर,

सर्वदा भय रहो।

सच तो यह है कि मन में निर्मलता आ जाने पर स्थिरता आ जाती है। ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों छिपी हुई शक्तियों का विकास होता जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि मन के स्थिर हो जाने पर प्राणी सभी दु:खों से छूट जाता है।

आगे-पीछे का चिन्तन मत करो। चलते-फिरते, उठते-बैठते निरन्तर हृदय से प्रेम-पात्र को पुकारो। अपने को उनके प्रेम की अधिकारिणी मानो। केवल अपनत्व का बल हो, अर्थात् 'मैं भगवान् की हूँ', इसी भाव के आधार पर अपने को उनके प्रेम की अधिकारिणी मानो और इसी के आधार पर उनके प्रेम की प्रतीक्षा करती रहो।

विचारशील अपने दोष तथा दूसरों के गुण देखते हैं। देखो बेटी! यह जीवन भगवच्चिन्तन करने के लिए ही मिला है। जिस मन में संसार की वस्तुओं का चिन्तन नहीं होता, उसी मन में भगवच्चिन्तन करने की शक्ति आती है। अत: संसार की वस्तुओं का चिन्तन मत करो।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

22

दारा-नगर, अबारी

14-2-46

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी! मन में किसी को बुरा मत समझो, परन्तु स्त्री-शरीर होने के कारण तुमको आदमी के शरीर से साँप-बिच्छू के समान डरना चाहिए, अर्थात् एकान्त में किसी भी आदमी से नहीं मिलना चाहिए।

यह भली प्रकार समझ लो कि लीलामय भगवान् ने तुमको तप-त्याग तथा भगवच्चिन्तन के लिए जीवन दिया है। अत: लेशमात्र भी संसार की वस्तुओं का चिन्तन नहीं करना चाहिए। मोह-जनित सभी सम्बन्धों को विचारपूर्वक तोड़ दो। अपने में ही प्रेम-पात्र की स्थापना कर, सब प्रकार से अचिन्त तथा अभय हो जाओ। शारीरिक पीड़ा को तप समझकर प्रसन्नतापूर्वक सहन करती रहो। कमरा बन्द कर, अकेले रहने का स्वभाव बनाओ। दिन में छत के ऊपर टहल लिया करो और अकेले में भगवत्-प्रेम के गीत गाया करो।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

23

कलकत्ता

30-1-46

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

प्राणी जिन-जिन वस्तुओं को प्रेम-पात्र के समर्पण कर देता है, वे वस्तुएँ स्वतः पवित्र होकर प्रेम-पात्र के पूजन की सामग्री बन जाती हैं। अतः तन, मन आदि किसी भी वस्तु को अपना मत समझो, यही महामन्त्र है।

जितेन्द्रियता, विश्व-सेवा तथा भगवच्चिंतन ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों सभी दोष निर्दोषता में बदलते जाते हैं।

विचारशील अपनी दृष्टि से केवल अपने ही दोषों को देख, उनके त्याग का दृढ़ संकल्प कर, अपने में निर्दोषता की स्थापना कर अचिन्त हो जाते हैं।

सच्चे भक्त के हृदय में लेशमात्र भी राग-द्वेष शेष नहीं रहता। राग-द्वेष मिटते ही पवित्र प्रीति की गंगा स्वतः लहराने लगती है। सच्चा प्रेमी प्रीति बनकर प्रीतम से अभिन्न होता है।

जो साधक कभी किसी के दोषों को नहीं देखता, उसको साधन में सफलता अवश्य होती है, क्योंकि पराए दोष न देखने से चित्त निर्मल हो जाता है।

भक्त वही है, जो संसार से निराश होकर, सब प्रकार से प्रेम-पात्र का हो जाता है। आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन न करने से ध्यान अपने-आप होने लगता है। जिस मन से वस्तुओं की सत्यता तथा प्रियता निकल जाती है, वही मन प्रेम-पात्र की पवित्र-प्रीति का आस्वादन कर सकता है।

साधन वही सार्थक है, जो सहज तथा स्वाभाविक हो। अतः निरन्तर सहज-भाव से प्रेम-पात्र को पुकारो।

प्रेम-पात्र की अहैतुकी कृपा का बल सभी बलों से श्रेष्ठ है, क्योंकि प्रेम-पात्र की कृपा प्रेम-पात्र को मोहित करने में समर्थ है। अतः जिन प्राणियों ने उनकी कृपा का सहारा लिया, वे सभी मुक्त हो गए, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

ज्यों-ज्यों मन बाहरी सहारे छोड़ता जाता है, त्यों-त्यों प्रेम-पात्र की कृपा का बल स्वतः मिलता जाता है। अतः अपने को सभी बाह्य वस्तुओं से असङ्ग कर लो, अर्थात् किसी भी वस्तु के आधार पर प्रसन्नता मत खरीदो।

किसी भी व्यक्ति से एकान्त में मत मिलो, आवश्यकता से अधिक बातचीत मत करो। एकान्त में प्रेम-पात्र के गीत गाया करो। जहाँ तक हो सके, अकेले रहने का स्वभाव बनाओ, क्योंकि अकेले होने पर ही भगवच्चिंतन हो सकता है। बाहरी साधन से कहीं अधिक आन्तरिक साधन सबल होता है। अतः हृदय से व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र की प्रतीक्षा करती रहो।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

24

देहली

4-2-46

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी! यदि तुम्हारे मन से संसार का चिन्तन मिट जाएगा, तो वह मन प्रेम-पात्र के रहने का स्थान बन जाएगा, क्योंकि जिस मन से संसार की चाह निकल जाती है, उसमें 'वे' सदा निवास करते हैं।

ज्यों-ज्यों तुम्हारा हृदय प्रेम-पात्र की प्रीति से छकता जाएगा, त्यों-त्यों सभी दोष स्वतः मिटते ही जाएँगे, क्योंकि प्रेम-पात्र की प्रीति पतित-से-पतित प्राणी को पवित्र एवं असमर्थ को समर्थ कर देती है। अतः हृदय में निरन्तर प्रेम-पात्र की प्रीति की गंगा लहरानी चाहिए।

जो प्राणी पराए दोष नहीं देखता, उसे अपनी निर्बलता देखने का अवसर तथा योग्यता आ जाती है, जो उन्नति का मूल है; क्योंकि अपनी निर्बलता देख लेने पर उसके मिटाने की शक्ति उत्पन्न होती है। अतः भूलकर भी किसी अन्य के दोष मत देखो। सच्चे भक्त अपने गुण तथा दूसरों के दोष नहीं देखते हैं।

बेटी, जो प्राणी बाहरी साधनों में अपने को अधिक बाँध लेता है, उसमें साधन का मिथ्या अभिमान आ जाता है। बाहरी साधन निर्बलताओं को ढक देता है, मिटा नहीं पाता। इस कारण तुमको बाहरी बातों में अधिक नहीं फँसना चाहिए। यह भली प्रकार समझ लो कि छिपा हुआ साधन बाहरी साधनों से

कहीं अधिक सबल होता है, छिपा हुआ त्याग तथा प्रेम बढ़ जाता है, छिपी हुई प्रीति सच्ची व्याकुलता उत्पन्न करती है, जो वास्तव में सच्चा भजन है। किसी ने भी बहुमूल्य वस्तुओं को बाहर निकालकर नहीं रखा, सब छिपाकर ही रखते हैं। अत: प्रीति जैसी अमूल्य वस्तु को हृदय में छिपाकर रखना चाहिए।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

25

चम्बल-तट, अबारी

14-2-46

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

सुख तथा दु:ख दिन-रात के समान आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं। विचारशील सुख का लालच तथा दु:ख का भय निकाल देते हैं।

जिसका मन सुख-दु:ख के बन्धन से छूट जाता है, उसके हृदय में पवित्र प्रीति स्वत: उत्पन्न होती है, क्योंकि सुख-दु:ख से छूटते ही आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन मिट जाता है। आगे-पीछे का चिन्तन मिटते ही प्रेम-पात्र का ध्यान स्वत: होने लगता है। ज्यों-ज्यों ध्यान स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों प्रेमी का हृदय प्रीतम की प्रीति से भरता जाता है।

शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना मत समझो। सब प्रकार से प्रेम-पात्र की होकर अचिन्त तथा अभय हो जाओ। संसार से सच्ची निराशा ही परम तप है। राग-द्वेषरहित होना ही सच्ची पवित्रता है। त्याग तथा प्रेम परम-साधन हैं, आत्म-समर्पण ही सच्चा भजन है। प्रेम-पात्र की कृपा का सहारा ही परम बल है।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

26

बलरामपुर

भक्तवर, 13-3-46

सर्वदा अभय रहो।

तुमको अपना स्वभाव छोटे-छोटे बालकों की भाँति सरल तथा सच्चा बनाना चाहिए। किसी भी प्रतिकूल बात को सुनकर मन में क्रोध का भाव उत्पन्न होना तथा संकोच आ जाना सरल स्वभाव नहीं है। सरलता से मन स्वस्थ हो जाता है और संकोच तथा भय से मन निर्बल हो जाता है। तुमको अपना मन स्वस्थ तथा सबल बनाना चाहिए।

जब तुम सब प्रकार से प्रेम-पात्र की हो चुकी हो, तो फिर संकोच तथा भय के लिए स्थान ही कहाँ है? क्योंकि सभी तो प्रेम-पात्र के बनाए हुए खिलौने हैं। जो बात मन में उत्पन्न हो, उसको सभ्यता-पूर्वक स्पष्ट प्रकट कर दो। मन में किसी भी बात को जमा मत रखो।

देखो बहिन! मन प्रेम-पात्र के रहने का मन्दिर है, उसमें संसार का कचड़ा मत भरो। मैं लेश-मात्र भी तुम्हारी स्वतन्त्रता नहीं छीनता, किन्तु जो भाव उत्पन्न होता है, प्रकट कर देता हूँ।

ॐ आनन्द! आनन्द ! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

27

कराँची

6-4-46

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

तप से शक्ति, त्याग से शान्ति, अपनत्व से प्रीति, सेवा से पवित्रता स्वतः आ जाती है।

अहितकारी चेष्टाओं का अन्त कर हितकारी चेष्टाओं का करना तप है। किसी भी वस्तु को अपना न समझना त्याग है। सब प्रकार से प्रेम-पात्र का हो जाना अपनत्व है। सर्वहितकारी भावनाओं का सतत जागृत् रहना सेवा है।

देखो बेटी! उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर दो, जो दीनता तथा अभिमान उत्पन्न करती हों। जब प्राणी संसार की सहायता से प्रसन्नता नहीं लेता, तब दीनता मिट जाती है; जब किसी भी वस्तु को अपना नहीं समझता,

तब अभिमान मिट जाता है। दीनता तथा अभिमान मिट जाने पर हृदय में प्रीति की गंगा लहराती है।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

28

भक्तवर, हरिद्वार गंगातट

सर्वदा अभय रहो। 27-11-46

निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करने वाले साधकों को शुद्ध अर्थात् पवित्र संकल्पों की भी पूर्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि संकल्पों की पूर्ति के लिए किसी-न-किसी प्रकार के संग्रह की आवश्यकता होती है, जो वास्तव में अनर्थ का मूल है। इतना ही नहीं कि संकल्प-पूर्ति का रस साधक को साध्य से अभिन्न नहीं होने देता, प्रत्युत ज्यों-ज्यों संकल्पों की पूर्ति होती जाती है, त्यों-त्यों नवीन संकल्पों की उत्पत्ति भी होती जाती है। यह नियम है कि संकल्प उत्पन्न होते ही सीमित अहंभाव दृढ़ होता है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प-पूर्ति का रस देहाभिमान गलने नहीं देता, उसके बिना काम-क्रोध आदि विकारों का अन्त नहीं हो पाता। उन विकारों के रहते हुए सर्व-समर्थ आनन्दघन राम से अभिन्नता नहीं हो सकती। इस दृष्टि से निवृत्ति-मार्ग के साधक को संकल्पों का त्याग ही परम अनिवार्य है।

संकल्पों का त्याग करते ही सब प्रकार का संग्रह स्वत: मिटने लगता है। ज्यों-ज्यों संग्रह मिटता जाता है, त्यों-त्यों वस्तुओं की दासता, उनकी सत्यता तथा प्रियता भी मिटती जाती है, जिससे देहाभिमान अपने-आप गलने लगता है। देहाभिमान गलते ही सभी दोष मिट जाते हैं और निर्दोषता से अभिन्नता प्राप्त होती है। इसी कारण किसी सन्त ने कहा है कि नारायण तो मिले उसी को, जो देह का अभिमान तजे।

इस अभागे देहाभिमान ने हमको हमारे परमप्रिय प्रेमास्पद से विमुख कर हमारी जो दुर्दशा की है, वह किसी कथन द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। केवल संकेतमात्र में यह कह सकते हैं कि हम अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाते, परन्तु फिर भी दूसरों की दृष्टि में आदर के योग्य बने रहने की प्रबल इच्छा करते हैं। हमारी इस बेईमानी को धिक्कार है।

हे पतित-पावन सर्व-समर्थ भगवान्! आप अपनी ओर देख, अपने इस पतित प्राणी को अपनाइए, जिससे इसका उद्धार तथा आपका नाम सार्थक हो।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

आपका अभेदस्वरूप

....

29

बलरामपुर

भक्तवर, 22-5-51

सर्वदा अभय रहो।

ता० 14 मई का सरल ईमानदारी-युक्त पत्र मिला। निस्सन्देह तुम बड़ी समझदार लड़की हो। तुमने सचमुच मन की दशा का ठीक-ठीक अध्ययन किया है। देखो बेटी! प्राणी में काम स्वाभाविक विद्यमान है। इसे मनोविज्ञानी आदि रस बताते हैं, पर है अनित्य। प्राणी की माँग नित्य-रस की है, जिसकी उपलब्धि काम का अन्त होने पर ही सम्भव है। काम का वास्तविक स्वरूप सीमित और परिवर्तनशील सौन्दर्य है। यदि काम न रहे, तो शरीर की उत्पत्ति ही न हो, क्योंकि शरीर की उत्पत्ति में मूल 'काम' है।

विवेकीजन इस काम को राम की अभिलाषा से भस्मीभूत कर देते हैं। देखो बेटी! देहाभिमान से काम की उत्पत्ति होती है और देहाभिमान गल जाने पर काम का अन्त होता है। देहाभिमान गलाने के लिए शरीर को संयम का मन्दिर बना लेना अनिवार्य है। पर संयम का जन्म भीतर के मन से होता है। ऊपर के मन से जो कुछ दिखाई देता है, भीतर के मन में उससे कुछ भिन्न ही निकलता है।

देखो बेटी, जब यह निश्चित है कि शरीर की उत्पत्ति काम से है, तो उसमें काम का होना स्वाभाविक ही है। उस काम के अनेक रूप हैं। छोटे-छोटे बालकों के प्रति जो स्नेह प्रदर्शित होता है, वह भी काम का एक शुद्ध रूप है, पर उसका प्रभाव एक पक्ष में ही अधिक होता है। बालक के मन में उसकी प्रतिक्रिया केवल हृदय तक रहती है, इन्द्रियों तक नहीं पहुँचती। पिता-भ्राता के मन में भी हृदय की ही प्रबलता होती है, पर शरीर का पूर्ण विकास होने पर उन चेष्टाओं का प्रभाव इन्द्रियों तक न पहुँचे, इसके लिए कोई स्थाई रुकावट नहीं हो सकती। जब तक भाव का आदर है, तब तक हृदय में स्नेह का संचार होगा और इन्द्रियों में शुद्धता रहेगी, पर देहाभिमानयुक्त स्नेह, मोह में परिणत होकर कामाग्नि को प्रज्वलित कर सकता है। हाँ, कब और कितना, यह नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार नदी का शुद्ध जल किसी गड्ढे में आबद्ध होकर अनेक विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार स्नेह किसी शरीर, वस्तु या अवस्था में आबद्ध होकर मोहयुक्त अनेक विकार उत्पन्न करता है। स्नेह प्राणी की परम आवश्यकता है, पर उसे किसी में आबद्ध नहीं करना चाहिए। हृदय में स्नेह की गंगा लहराती रहे, पर उसके सामने कोई दीवार नहीं होनी चाहिए, जिससे वह टकरा जाय। साधक का आधार उसकी साधना और लक्ष्य है। प्राणी का लक्ष्य काम का अन्त कर राम से अभिन्न होना है। उसकी साधना भोगेच्छाओं को राम की अभिलाषा में, स्वार्थ को सेवा में, एवं असंयम को संयम में परिवर्तित कर देना है।

तुम्हें अपने हर एक कार्य में जाग्रत तथा सावधान रहना है। प्रीति का उपयोग सर्व-समर्थ प्रभु के प्रति ही सम्भव है और शरीर का उपयोग दीन-दुखियों की सेवा में। देखो बेटी! जब तक मन अमन न हो जाए और इन्द्रियाँ स्वाभाविक सहज स्नेह में न डूब जाएँ, तब तक भीतर-बाहर दोनों प्रकार के संयम की आवश्यकता है; क्योंकि कभी-कभी मन की शुद्धता पर बाह्य ऐश्वर्य विजय पा जाता है और कभी-कभी माधुर्य अधिकार जमा लेता है।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

तुम्हारा

....

30

रानीखेत

10-6-51

स्वधर्मनिष्ठ प्रिय पुत्री,

तुम्हारा 4 जून का पत्र मिला। निस्सन्देह तुम बड़ी ईमानदार लड़की हो। तुमने विवेकपूर्वक अपने मन पर पक्षपातशून्य कड़ी आलोचना की है, मोहवश उसे क्षमा नहीं किया। अपने साथ ऐसा न्याय कोई बिरले ही कर पाते हैं। तुमने होने वाली घटना से सही अर्थ लिया है, इसमें मुझे लेशमात्र भी अविश्वास नहीं है। पर बेटी, विचार यह करना है कि तुम अपने विवेकयुक्त निर्णय के पालन करने में किन-किन कठिनाइयों को सहर्ष सहन कर सकती हो, वर्तमान मानव-समाज के कलुषित वातावरण में रहकर अपनी सच्चरित्रता तथा साधना की रक्षा किन उपायों से कर सकती हो।

देखो पुत्री! जब तक प्राणी का हृदय दु:ख से भरा रहता है, तब तक उसकी समझ और मन में एकता और शुद्धता बनी रहती है। उस अवस्था में कोई भी बाह्य प्रतिकूलता उस पर विजय नहीं पा सकती, किन्तु ज्यों-ज्यों बनावटी सुख से दु:ख कम होता जाता है, त्यों-त्यों मन सबल और विवेक निर्बल होता जाता है। विवेक के निर्बल होते ही मन इन्द्रियों की ओर गतिशील होकर बेचारे साधक को लक्ष्य से भ्रष्ट कर देता है, अर्थात् धर्म पर मोह विजय पा लेता है और फिर साधक साधारण प्राणियों की भाँति बहाव में बहने लगता है। इतना ही नहीं, वह अपने से गिरे हुए प्राणियों के उदाहरणों को सामने रखकर, अभिमान कर, बनावटी सुख से सन्तुष्ट होने के गीत गाने लगता है। तुम्हें इस प्रमाद से बचना है।

ब्रह्मचर्य-युक्त जीवन के लिए केवल दो ही बातें करनी होंगी, एक तो छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं अर्थात् ब्रह्मचारियों की सेवा, दूसरे मीरा की भाँति परम प्रेमास्पद के लिए गहरी व्याकुलता। जिनके मन में समाज के बालक, बालिकाओं की यथेष्ट सेवा न करने का गहरा दु:ख है, अथवा जिसका मन मीन की भाँति अपने प्रिय के लिए तड़प रहा है, वे ही प्राणी काम पर विजय पा सकते हैं। जिन्हें जीवनभर ब्रह्मचारी रहना है, उन्हें इन दोनों में से किसी एक दु:ख को अपना लेना होगा, अथवा इन दोनों में जीवन को विभक्त कर देना होगा। तन से ब्रह्मचारियों की सेवा करते हुए मन में प्रभु-मिलन की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ानी होगी। ऐसा करना तभी सम्भव होगा, जब साधक मोहयुक्त माने हुए सभी सम्बन्धों का अन्त कर दे। जिसे कोई भी अपना साथी चाहिए, वह ईमानदारीपूर्वक ब्रह्मचारी नहीं रह सकता। ऐसा अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

लाड़ली बेटी! काम के अनेक रूप होते हैं। कभी तो कामदेवता बड़ा ही सुन्दर धर्मयुक्त रूप बनाते हैं और प्राणियों पर अधिकार पाते ही किसी-न-किसी अंश में उन्हें मोहयुक्त अधिकार-लालसा में फँसा लेते हैं। प्राणी अपनी की हुई प्रतिज्ञाओं को भूल जाते हैं। इस बैरी काम पर विजय पाने के लिए साधक को बड़ी ही सावधानी तथा विवेकपूर्वक कड़ी साधना करनी होगी; जिसका प्रथम पाठ अकेले रहना, अपने निकट अर्थ न रखना और सेवा के अतिरिक्त सारा समय सार्थक-चिन्तन में व्यतीत करना है। इसके पश्चात् साधक में आन्तरिक शक्तियों का विकास होगा। वे अनेक प्रकार का प्रलोभन सामने उत्पन्न करेंगी। उनमें भी आबद्ध न होना अनिवार्य होगा। तब कहीं काम 'राम' की अभिलाषा बनकर राम से अभिन्न होगा, अर्थात् साधक अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाएगा।

प्यारी बेटी! अब तुम मन के सामने उपर्युक्त कर्तव्य रख दो और उससे पूछो कि क्या चाहते हो। यदि मन तुम्हारे निश्चित पाठ को पढ़ने लगे, तो तुम सच्ची साध्वी बनकर अपने को, कुटुम्ब को तथा समाज को सुशोभित कर सकती हो। अब तुम्हें परिवर्तनशील जीवन का प्रत्येक क्षण, तन और मन के सदुपयोग में लगाना होगा, अर्थात् श्रमी जीवन बनाना होगा; आलस्य और प्रमाद का नितान्त अन्त करना होगा, विरोधी विचारधारा के प्राणियों से असंग रहना होगा। सेवा करने के लिए सभी बालक-बालिकाएँ अपने होंगे और अपने लिए सर्व-समर्थ प्रभु को ही अपना बनाना होगा। प्रत्येक कार्य के अन्त में व्याकुलतापूर्वक प्रभु को पुकारना होगा तथा अपने को 'उनके' शरणापन्न कर, अचिन्त रहना होगा।

तुम्हारा

....

31

रानीखेत

मेरे निजस्वरूप परमप्रिय, 11-6-51

तुम्हारा 3 जून का लिखा हुआ पत्र कल मिला। निस्सन्देह तुम बड़े हृदयशील प्राणी हो। पर भैया, विश्वास करने योग्य दो ही वस्तुएँ हैं—सर्व-समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा और अपना कर्त्तव्य। और जानने योग्य दो ही वस्तुएँ हैं—प्राप्त योग्यता का सदुपयोग और अपना लक्ष्य। इन चारों के अनुरूप जीवन बना लो।

एक बार गुरुदेव से सुना था कि जो सच्चाईपूर्वक प्रभु के शरणागत हो जाते हैं, उनको आवश्यक वस्तुएँ बिना माँगे ही मिल जाती हैं, और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं मिलतीं। अत: वर्तमान का आदर करते हुए, जिनके होकर रहते हो, उन्हीं के नाते प्रत्येक कार्य करते रहो, और कार्य के अन्त में हृदय से व्याकुलतापूर्वक उन्हीं को पुकारो। यही आस्तिक प्राणी का जीवन है।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

तुम्हारा

....

32

ऋषिकेश

मेरे निजस्वरूप परमप्रिय, 15-5-52

तुम्हारा पत्र मिला। प्रत्येक प्राणी अपनी समझ से ठीक ही लिखता है; अत: तुमने जो लिखा है, ठीक ही है। पर भैया, विधि का विधान न्यायपूर्ण है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही उन्नति होती है।

पश्चात्ताप करने वाला पापी अभिमानी योगी से आगे निकल जाता है, क्योंकि प्रभु को दीन प्यारे हैं। अत: आस्तिक प्राणी के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

रोग वास्तव में प्राकृतिक तप है। अन्तर केवल इतना है कि तपस्वी स्वेच्छापूर्वक कठिनाइयों को सहन करता है और रोगी अनिच्छापूर्वक। स्वेच्छापूर्वक कठिनाइयों को सहन करने के कारण तप दु:खद नहीं मालूम होता और बिना इच्छा के कारण रोग दु:खद जान पड़ता है। यदि रोग द्वारा प्राप्त दु:ख को सहर्ष सहन कर लिया जाए, तो रोग भी तप के समान हो जाता है। रोग से अशुभ कर्म के फल का अन्त होता है और तप से अशुभ कर्म का अन्त होता है। जिस प्रकार तपस्वी को तप के अन्त में शान्ति मिलती है, उसी प्रकार रोगी को रोग के अन्त में भी शान्ति मिलती है।

निरन्तर हृदय से व्याकुलतापूर्वक प्रभु को पुकारते रहो। मन से उन्हीं से बातचीत करो। जब तक तुम्हें उनका पवित्र प्रेम न प्राप्त हो, तब तक उन्हीं से प्रार्थना करते रहो। विश्वास करने योग्य केवल उनकी कृपा है और कुछ नहीं। अपनी सारी इच्छाएँ उन्हीं के समर्पण कर दो, तभी प्रसन्नता मिलेगी।

मेरा जीवन तो उस खिलाड़ी का फुटबाल बन गया है। कब कहाँ रहना होगा, वे ही जानें। शरीर का मिलन वास्तव में मिलन नहीं है। लक्ष्य तथा स्नेह की एकता ही सच्चा मिलन है। जो प्राणी सब प्रकार से प्रभु के होकर रहते हैं, वे मेरे हैं और मैं सर्वदा उनके निकट हूँ—ऐसा मेरा विश्वास है। पुन: तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द! आनन्द! आनन्द!

तुम्हारा,

....

साधन-सूत्र

1. परिवर्तनशील जगत् की प्रत्येक वस्तु निरन्तर काल-रूप अग्नि में जल रही है। अत: वर्तमान में ही योग्यतानुसार प्रयत्न कर, प्रेम-पात्र से अभिन्न होने का प्रयास करना चाहिए।
2. अपने दु:ख का कारण अपने से भिन्न किसी और को नहीं समझना चाहिए।
3. अपनी निर्बलता को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना चाहिए।
4. प्रेम-पात्र के नाते सभी सम्बन्धियों के साथ निष्कपट तथा पवित्रतापूर्वक माने हुए भाव के अनूरूप सभी आवश्यक व्यवहार करने चाहिएँ।
5. अपनी ओर से किए हुए व्यवहार के बदले में अपने प्रति अनुकूल व्यवहार की आशा नहीं करनी चाहिए।
6. आवश्यकता से अधिक थोड़े समय भी बेकार चेष्टाएँ नहीं करनी चाहिएँ, क्योंकि व्यर्थ-चेष्टाओं के निरोध से जितेन्द्रियता स्वाभाविक प्राप्त होती है।
7. संसार से सच्ची निराशा परम बल है।
8. अपने को सब ओर से हटाकर अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना अनन्य भक्ति है।
9. स्वधर्म पालन करने में आई हुई कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना परम तप है।
10. किसी की बराबरी करने की भावना मन में उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिए।
11. उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर दो, जो किसी की पूर्ति तथा हित का साधन नहीं हैं।
12. उन सभी संकल्पों का अन्त कर दो, जिनको जन-समाज के सामने निर्भयतापूर्वक प्रकाशित नहीं कर सकते।
13. अन्न-वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं को शारीरिक हित के भाव से ग्रहण करो।
14. आवश्यकता के अतिरिक्त केवल विलासिता के भाव से जन-समाज से मत मिलो।
15. जब तक जितेन्द्रियता स्वाभाविक न हो जाए, तब तक किसी भी स्त्री-पुरुष से एकान्त में अधिक बातचीत मत करो।

16. अपने-आप आने वाले सुख-दु:ख का शासन अपने पर मत होने दो।
17. बड़ी-से-बड़ी कठिनाई आने पर भी हार स्वीकार मत करो।
18. सत्य की खोज के लिए सर्वस्व समर्पण कर दो।
19. प्रत्येक कार्य आरम्भ करने के पूर्व हित-अहित की दृष्टि से उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लो।
20. वाणी का संयम करने के लिए भी व्यर्थ बात मत करो, अर्थात् स्वाभाविक मौन रहने का स्वभाव बनाओ।
21. हृदय में मोह की अग्नि मत जलने दो।
22. मृतक प्राणी का चिन्तन मत करो।
23. बच्चों की यथा-शक्ति सेवा करते हुए उनके सुख-दु:ख से अपने को हर्ष अथवा विषाद मत होने दो।
24. नूतन बालवत् स्वभाव बनाने का प्रयत्न करो।
25. प्रत्येक कार्य अभिनय के रूप में करने का प्रयत्न करो।
26. निर्बलताओं को मिटाने के लिए व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र से प्रार्थना करो।
27. यथाशक्ति बुराई का उत्तर अच्छाई से देने का स्वभाव बनाओ।
28. दूसरों द्वारा की हुई बुराई का प्रभाव अपने पर मत होने दो।
29. भूतकाल की सभी घटनाओं को स्वप्नवत् समझकर भूल जाओ।
30. वर्तमान परिस्थिति को संभालने का प्रयत्न करो, क्योंकि वर्तमान को संभालने से बिगड़ा हुआ भूत तथा आने वाला भविष्य, दोनों अपने-आप संभल जाते हैं।
31. अपने को शरीर कभी मत समझो।
32. सर्वेन्द्रियों का ब्रह्मचर्य पालन कर, शरीर को शुद्ध कर लो।
33. प्रेम-पात्र के विरह तथा तत्त्व-विचार से हृदय शुद्ध कर लो।
34. गुणों का भोग मत करो, क्योंकि भोग करने से विकास रुक जाता है।
35. अपनी अच्छाई तथा दूसरों की बुराई भूल जाओ।
36. दूसरों के दोष मत देखो, क्योंकि दूसरों के दोष देखने से दोषों से अकारण ही सम्बन्ध हो जाता है।
37. दोषों का चिन्तन दोषों से भी अधिक दोष है।
38. भलाई का चिन्तन भलाई से भी अधिक भलाई है, क्योंकि चिन्तन से दृढ़ता आ जाती है।

39. की हुई बुराई को पुनः न करना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित् है, क्योंकि दोष के न करने से गुण अपने- आप उत्पन्न हो जाता है। अतः भूल हो जाने पर, प्रायश्चित करने का स्वभाव बनाओ।
40. अपनी भूल स्वीकार करने से कभी इन्कार मत करो, क्योंकि भूल स्वीकार करते ही सच्चा पश्चात्ताप उत्पन्न होता है, जो सभी बुराइयों को खा जाता है।
41. ऐसा कोई कार्य मत करो, जिससे अपनी दृष्टि में आदर के योग्य न रहो।
42. विषय-चिन्तन मिटाने के लिए भगवच्चिन्तन का स्वभाव बनाओ।
43. माने हुए सम्बन्धों का अन्त करने के लिए सद्भावपूर्वक प्रेम-पात्र से सम्बन्ध कर लो। प्रेम-पात्र वही है, जिसका वियोग नहीं होता।
44. स्वीकृतिमात्र को सत्ता मत समझो।
45. सत्ता के यथार्थ ज्ञान के लिए स्वीकृति को अस्वीकृति से मिटा दो, क्योंकि स्वीकृति किसी अभ्यास से नहीं मिट सकती।
46. धर्मानुसार की हुई स्वीकृति के विधान के विपरीत कोई भी कर्म मत करो; क्योंकि अहंता के अनुरूप की हुई प्रवृत्ति से निर्भयता आ जाती है।
47. निर्वासना प्राप्त करने के लिए अपने में-से सभी स्वीकृतियों को निकाल दो, क्योंकि सभी वासनाओं का जन्म स्वीकृति से ही होता है।
48. निर्वासना के बिना सत्य का अनुभव नहीं होता। अतः निर्वासना प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो।
49. निर्वासना किसी अन्य के द्वारा नहीं प्राप्त होती। अतः उसे प्राप्त करने के लिए अपने पर ही पूरा भरोसा करो। ऐसा कोई गुण नहीं है, जो निर्वासना से न आ जाए।
50. स्वार्थ-भाव मिटाने के लिए सेवा करने का स्वभाव बनाओ; क्योंकि सेवा करने से स्वार्थ-भाव मिट जाता है।
51. उस सुख का त्याग कर दो, जो किसी का दुःख हो।
52. उस दुःख को प्रसन्नतापूर्वक अपनाओ, जिससे किसी का हित हो।
53. अपनी प्रसन्नता के लिए किसी प्रकार का संगठन मत बनाओ; क्योंकि संगठन से उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता अपने आप मिट जाती है।
54. ऐसा कोई भी कार्य मत करो, जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते।

55. जिसकी आवश्यकता है, उसका अभाव स्वीकार न करो।
56. अपनी आवश्यकता से भिन्न किसी प्रकार का संग्रह न करो।
57. स्वीकृति को सत्ता मत समझो, क्योंकि 'स्वीकृति' अस्वीकृति से मिट जाती है।
58. सत्ता वही है, जिसका किसी प्रकार त्याग नहीं हो सकता।
59. त्याग करने वाले का त्याग अवश्य कर दो।
60. एक-निष्ठता सफलता की सर्वोत्कृष्ट कुन्जी है।
61. कर्तव्य का यथार्थ ज्ञान होने पर गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रहती।
62. सब प्रकार की क्रियाओं का अभाव होने पर कर्त्ता का भी अन्त हो जाता है।
63. जो करना चाहिए उसके करने से, 'करने' का अन्त हो जाता है।
64. सुख और दु:ख बीज और वृक्ष के समान हैं; क्योंकि सुखरूपी बीज से ही दु:खरूपी वृक्ष हरा-भरा होता है।
65. किसी का न होना, किसी का होना हो जाता है।
66. सेवक के जीवन में सुख, सुविधा, सम्मान के भोग का कोई स्थान ही नहीं है।
67. 'सेवा' सेवक को सेव्य की अगाध प्रियता प्रदान करती है।
68. सेवक से ही सेव्य को नित-नव रस मिलता है।
69. सुख, सुविधा, सम्मान की रुचि विनाश का मूल है।
70. सेवा, त्याग, प्रेम की माँग जीवन की वास्तविक माँग है।
71. सेवा की ही पूर्णता में त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति है।
72. अकिंचन, अचाह तथा अप्रयत्न-पूर्वक साधक साध्य से अभिन्न होता है।
73. साधक को किसी भी काल में साध्य की विस्मृति नहीं होती।
74. साधक सजगतापूर्वक भूलरहित होने के लिए अथक प्रयत्नशील रहता है।
75. 'शरीर' प्रभु के नाते सेवा-सामग्री है। सेवा-सामग्री को भोग-सामग्री बनाना भारी भूल है।
76. निर्मम होने से 'चित्त' शुद्ध और निष्काम होने से शान्त होता है।
77. निमर्मता तथा निष्कामता से चित्त सदा के लिए शान्त हो जाता है।
78. वर्तमान की नीरसता काम की जाननी है।

79. अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता में ही रसरूप जीवन है।
80. आत्मीयता से ही अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता उदय होती है।
81. सजगता से ही प्रमाद की निवृत्ति होती है।
82. मोह का नाश होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।
83. निर्दोष वही हो सकता है, जिसे केवल अपने ही दोषों का दर्शन होता है।
84. यदि अनुकूलता का सुख न प्रतीत हो, तो प्रतिकूलता का दु:ख नहीं हो सकता।
85. प्रेम-प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।
86. वर्तमान का सदुपयोग ही विकास का मूल है।
87. जो हम अपने प्रति चाहते हैं, वही दूसरों के प्रति करना चाहिए।
88. 'त्याग' से अपने लिए, 'सेवा' से समाज के लिए और 'प्रेम' से प्रभु के लिए अपने को उपयोगी बनाएँ।
89. 'करने' में सावधान और 'होने' में प्रसन्न रहना चाहिए।
90. जो स्वयं भयभीत है, वही दूसरों को भय देता है।
91. की हुई भूल न दोहराने से स्वत: मिट जाती है।
92. कुछ भी पाने की चाह रखकर, सेवा और प्रेम नहीं हो सकता।
93. व्याकुलता होने पर ही प्रभु-प्राप्ति सम्भव है।
94. विश्वास के दृढ़ होने पर प्रीति जग जाती है।
95. जो कुछ भी चाहता है, वह 'होने' में प्रसन्न और 'करने' में सावधान नहीं रह सकता।
96. अहम् के नाश में अनन्त सामर्थ्य निहित है।
97. समस्त विकास निरभिमानता में निहित है।
98. सेवा और त्याग में ही कर्तव्य निहित है।
99. सुख उसी का दास है, जो सुख का दास नहीं है।
100. मोहयुक्त क्षमा तथा क्रोधयुक्त त्याग निरर्थक है।

सन्त-समागम

भाग-3

ॐ

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।